मूल्य : अठारह रुपये (18.00)
राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006 द्वारा प्रकाशित
संस्करण : 1984
CHHOTE-BADE DAIRE (Memoirs), by Chandragupta Vidyalankar

छोटे-बड़े दायरे

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार



राजपाल एण्ड सन्ज़

भूमिका

यह बीसवी सदी अब तक के मानव इतिहास की शायद सबसे अधिक महत्व-पूर्ण सदी है। इस सदी में राष्ट्रीय संघर्ष इस सीमा तक पहुंचे कि दो विश्व युद्ध अब तक हो चुके हैं और तीसरा सम्भावना के क्षेत्र मे समाया है। वैज्ञानिक आविष्कार इस सीमा तक पहुंच चुके हैं कि यदि सचमुच अणु-युद्ध प्रारम्भ हो गया तो इस सदी के अन्त से पहले इस पृथ्वी नक्षत्र पर से मानव जाति का लोप हो जा सकता है।

विश्व भर में आज जो अनिश्चितता, संदेह और भय व्याप्त हो गया है, उसने मानव जाति के पुराने सभी मूल्यों और आदर्शों को झकझोर दिया है। इस बढती हुई आस्थाहीनता से अधिकाश राष्ट्रों में हिंसा और असत्य की वृद्धि हुई है।

इस सदी का चमकीला पहलू भी निस्सन्देह है। विज्ञान ने आज मनुष्य को इतनी बड़ी शक्ति दे दी है कि यदि वह समझदारी से काम ले तो संसार के सभी राष्ट्र, यानी सम्पूर्ण मानव जाति बहुत शीघ्र सम्पन्न, स्वस्थ और शिक्षित बन सकती है। सिर्फ पारस्परिक अविश्वास और मिथ्या भय को दूर करना जरूरी है।

मैं इस सदी के पहले दशक से लेकर आज तक के जीवन का साक्षी हूं। इस बीच में जो कुछ घटित हुआ है, उसे भरसक देखने और समझने की गम्भीर कोशिश मैंने की है—निस्सन्देह अपने दायरे के भीतर से। प्रत्येक व्यक्ति का अपना दायरा होता है। सच तो यह है कि मानव इतिहास असंख्य इन्सानों के छोटे-बड़े दायरो की अन्तहीन कहानी है।

भारत का स्वाधीनता वर्ष सन् 1947 एक तरह से मेरे जीवन का विभाजन वर्ष भी है। स्वाधीनता से पूर्व मैं जिस तरह का जीवन बिता रहा था, लाहौर छोड़ देने के बाद मुझे पूरी तरह अपनी जीवन शैली बदल लेनी पड़ी।

क्रम

दूसरे सूरज के प्रकाश में

इस सदी के तीस वर्षों तक, (1917 से 30 जनवरी, 1948) हिन्दुस्तान के आकाश मे दो सूरज प्रकाश देते रहे—एक तो हमारे सौर मण्डल का केन्द्र सूर्य, जो माता पृथ्वी को करोड़ों-अरबों वर्षों के लिए भौतिक प्रकाश दे रहा है और दूसरे, महात्मा गांधी, जिन्होंने इस देश के लाखो-करोड़ों नागरिकों के हृदय में ज्योति जला दी, और जिनके नेतृत्व मे हमारे देश ने सदियों की मंजिल कुछ ही वर्षों में प्राप्त कर ली।

महात्मा गांधी में यह एक असाधारण शक्ति थी कि उनसे मिलनेवाला व्यक्ति पूरी तरह उन्ही का हो जाता था। उनकी स्मरण शक्ति भी कमाल की थी। हजारो व्यक्तियों को वह अच्छी तरह जानते थे और लाखो के नाम उन्हे याद थे। सन् 1945 मे उन्होने मुझे भारतीय 'लिटरेचर बोर्ड' की कार्य समिति मे लिया था। उस वर्ष के अगस्त मास में वर्धा मे इस बोर्ड की बैठक हुई तो मैं अकेला ही ऐसा सदस्य था, जिससे बापू व्यक्तिगत रूप से परिचित नही थे। सेवाग्राम में पहली बैठक बापू के कमरे मे हुई। आचार्य विनोबा भावे, मशरूवाला, काका कालेलकर, राजगोपालाचारी, डा० जाकिर हुसैन, श्रीमन्नारायण अग्रवाल, डा० ताराचन्द आदि इस बैठक मे शामिल थे। बैठक समाप्त हुई और लोग बाहर जाने लगे तो बापू ने मुझसे कहा, "तुम अभी यहा ही रहो।" जब सब लोग चले गए, तो बापू ने मुझसे कहा, "बाकी सबको मैं जानता हूं, तुम्हारे बारे मे जानना चाहता हूं।"

बातचीत में उन्हे पता चला कि मेरी पत्नी के परिवार के लोगों से वह अच्छी तरह परिचित हैं। दिल्ली की सत्यवती देवी उन दिनों बीमार थी। बापू ने उनके बारे मे कितने ही सवाल किए। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हमारे परिवार के बाकी सदस्य कहां हैं और क्या कर रहे हैं, इस सम्बन्ध मे बापू को खासी-अच्छी जानकारी थी।

मेरे लिए तीन दिनों की वह वर्धा यात्रा तीर्थयात्रा के समान सिद्ध हुई।

सरकार कोई कदम उठाना चाहती थी और बापू से इस सम्बन्ध में राय मांगी गई थी। बापू के काम करने का एक तरीका यह भी था कि सभी तरह के निष्पक्ष व्यक्तियों से आवश्यक जानकारी प्राप्त कर वह अपनी धारणा बनाते थे। व्यक्तियो के सम्बन्ध मे उनकी धारणा सदा सही होती थी।

कांग्रेस के मेरठ अधिवेशन से पहले मैंने अपनी योजना बापू के पास भेज दी थी। उक्त योजना को पूरी तरह ठोक बजाकर वह उसे कार्यान्वित देखना चाहते थे। उस एक वर्ष मे राजनीतिक घटनाओं की चाल बहुत तेज़ हो गई थी और बापू को दिन-रात निरन्तर बहुत व्यस्त रहना पड़ा। विभाजन से कुछ दिन पहले वह पूर्वी बंगाल में गए थे। कुछ स्थानों पर तो वह लगभग अकेले ही थे। 'आलोग्र' नामक एक ऐसे ही गाव मे उस योजना के बारे मे उन्होंने एक पत्र मुझे अपने हाथ से लिखा था। लिफाफे पर पता भी अपने ही हाथ से लिखा था। लाहौर मे वह पत्र पाकर मेरी कल्पना के सम्मुख अकेले बापू का चित्र खिंच गया था और मेरी आखो में पानी भर आया था। विभाजन के बाद जब वह दिल्ली आए तो उस सिलसिले में दो-तीन बार उन्होने मुझे बुलाया था। जनवरी 1948 में उन्होंने मुझसे कहा था—"तुम्हारी योजना मेरे कागज़ो मे है और मैं कोई कागज़ व्यर्थ में अपने पास नही रखता।"

जैसा कि मैंने अभी कहा है, देश मे घटनाओं की रफ्तार बहुत तेज़ हो गई थी। जून 1947 मे जिन्ना साहब भारतीय फेडरेशन की बात मान गए, पर बाद मे हमारे नेताओं को उस तरह के फेडरेशन से देश-विभाजन अधिक अच्छा मालूम हुआ। बापू देश-विभाजन की बात से बहुत दुखी थे। पर अपने साथियों की बात उन्हें माननी पड़ी। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वाधीन हुआ, पर इस भारी कीमत पर कि भारत का एक खासा बड़ा भाग स्वाधीनता से कुछ ही घण्टे पहले एक पृथक देश बना दिया गया।

स्वाधीन भारत के सामने सबसे बड़ी समस्या आई, आबादियों की हिंसापूर्ण अदला-बदली के रूप में। इस महा भयकर मानवीय तूफान के लिए न भारत तैयार था और न ही पाकिस्तान। स्वाधीन भारत के प्रथम तीन महीनो का इतिहास दोनो देशों का सबसे अधिक काला इतिहास है।

करीब चार करोड़ विस्थापितों की बिना किसी पूर्व-योजना के अदला-बदली हुई। करीब दस लाख व्यक्ति इस हिंसापूर्ण अदला-बदली मे मारे गए और करीब दस लाख व्यक्ति ही अपनी जन्मभूमि से एकाएक उखाड़ दिए जाने के फलस्वरूप कुछ ही महीनों में मर गए।

नवम्बर, 1947 में जब मैं मसूरी से अम्बाला आया, तो मुझे अपनी आंखो पर विश्वास नही हुआ। हमारी कार शाम को जब अम्बाला के निकट पहुची तो मैंने देखा कि करीब 3 मील पहले ही से सड़क के दोनों ओर हज़ारो शरणार्थी खुली ज़मीन पर डेरा डाले हुए हैं। पाकिस्तान मे रेलगाडिया आती थी और लोगो को यहां छोडकर शैंड मे चली जाती थी। मेरी पत्नी की बड़ी बहन श्रीमती उपादेवी इन शरणार्थियों की सेवा का कार्य कर रही थीं। उसी रात से मैं भी इसी काम मे शामिल हो गया। सड़क के दोनो ओर बरसात का पानी जगह-जगह इकट्ठा हुआ था, जहां ज़रा भी सूखा स्थान मिला था, शरणार्थी स्त्री, पुरुष, बच्चे इस तरह जमा थे, जिस तरह बकरियो के झुण्ड जमा हो जाते हैं। नवम्बर मे अम्बाला मे दिन खूब गरम होते हैं और रातें खासी ठण्डी हो जाती हैं। ये स्त्री, पुरुष, बच्चे और बूढ़े दिन भर सूरज की तपिश सहते थे, क्योंकि सड़को के किनारे वृक्ष अधिक नही थे। जो थे, उनके नीचे बीस प्रतिशत से अधिक शरणार्थियों को स्थान नही मिल सकता था। रात को सरदी मे जिस तरह सिकुड़ कर इनमे से कितने ही लोग रात काटते थे, उसे देखकर हम लोगों का दिल दहल जाता था। लगभग आधे शरणार्थी सिर्फ कुछ नकदी ही अपने साथ ला पाए थे। उन्हें किसी तरह का सामान पाकिस्तान से नही लाने दिया गया था। उपा बहन के नेतृत्व में अम्बाला निवासियों ने हज़ारो रजाइया बांटी, पर वे आवश्यकता से बहुत कम थी। रोज नई गाड़ियां हज़ारों नए शरणार्थियों को अम्बाला ला रही थी। स्टेशन पर हैजे का टीका लगाने का जो इन्तजाम था, वह अपर्याप्त था; इससे कैम्प मे हैजा फैल रहा था। शरणार्थी अपने मुर्दों को जला तक नही पाते थे। मानव की दुर्दशा और उसके भयंकर मानसिक परिणाम देखकर मेरा दिल दहल गया। हम लोगो ने पजाब के मुख्यमंत्री डा० गोपीचन्द भार्गव को शिमला में टेलीफोन किया। विशेष अधिकार का प्रयोग कर उन्होंने बीस मिनटों तक टेलीफोन पर ही अम्बाला

की समस्याओं के बारे मे पूरी जानकारी प्राप्त की। स्थिति अत्यन्त विकट है, यह जानकर उन्होने कहा कि पूर्वी पंजाब की सरकार इस बारे मे आवश्यक सहायता कर सकने मे असमर्थ है। उन्होने यह भी कहा कि मैं विशेष हवाई जहाज़ में आप लोगों के दिल्ली जाने की आज ही व्यवस्था करता हूं (उन दिनों अम्बाला से रेलगाड़ियों का आना-जाना बन्द था, केवल शरणार्थियों को ढोने वाली गाड़िया ही अम्बाला तक आती थी।) आप तीनों (उषा बहन, मैं और अम्बाला के एक प्रमुख डाक्टर) दिल्ली में महात्मा गाधी से मिलकर उन्हें ये सब तथ्य बताइए। डाक्टर साहब ने यह भी कहा कि भारत सरकार अपनी चिन्ताओ और समस्याओं में इतना मसरूफ है कि वहा किसी मिनिस्टर के पास इतनी फुर्सत नही है कि हम लोगों की समस्याओं और दिक्कतों को सुलझाने का गम्भीर प्रयत्न करे। इस निराशा मे केवल महात्मा गाधी ही आशा की किरण हैं।

परिणामत हम तीनों व्यक्तियों का एक डेपुटेशन उसी शाम दिल्ली पहुच गया। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य कृपलानी तथा जनरल सेक्रेटरी आचार्य जुगलकिशोर से मिलकर हम लोग जब पुनर्वास मन्त्री श्री नियोगी के पास पहुंचे तो पाया कि श्री नियोगी का मन्त्रालय जैसे अभी तक पूरी तरह सगठित भी नही हो पाया है। फिर भी हम लोगों ने अम्बाला की भयंकर स्थिति का पूरा विवरण भी नियोगी जी को दिया। नियोगी साहब ने कहा कि हैजे की रोकथाम के लिए हमें शीघ्र ही राजकुमारी अमृतकौर से मिलना चाहिए। हम लोग राजकुमारी के यहा पहुंचे, तो वह उषा बहन से बड़े प्यार से मिली। जेल मे दोनों एक साथ रही थी। पर जब उन्हे हम लोगों के आने का उद्देश्य मालूम हुआ तो उन्होने अपनी पूरी असमर्थता प्रकट की। उन्होने कहा कि भारत सरकार की दिक्कतो का आप लोग अन्दाज़ा भी नही लगा सकते। उनकी तुलना में ये सब छोटी बातें है।

निराश होकर हम लोग बापू के पास पहुंचे। बापू ने बडी सहानुभूति से हम लोगो की बातें सुनी। जब उन्हे मालूम हुआ कि सरकार ने रजाई प्राप्त करने के लिए प्रत्येक शरणार्थी को एक ऐसा लम्बा फार्म कैम्प आफीसर की मौजूदगी मे भरना पड़ता है कि दिन भर मे सिर्फ बीस रजाइयां ही

बांटी जा सकती हैं, तो उन्होंने कहा कि आपके साथ वालंटियर और सरकारी कार्यकर्त्ता बिना किसी पूर्व सूचना के एक रात रजाइयों भरे ट्रकों में शरणार्थी कैंप पहुचें और उन सब शरणार्थियों को एक-एक रजाई देते जाएं जो वहां बिना रजाई के लेटे या सोये हुए मिलें। शरणार्थियों की दयनीय हालत के बारे में सुनकर बापू द्रवित हो गए। उन्होंने कहा कि हैजे की रोकथाम के लिए आप लोग राजकुमारी से मिलें। हम लोगों ने उन्हें बताया कि हम अभी-अभी वहीं से आए हैं। हम लोगों को कैम्प में किस तरह काम करना चाहिए, इस सम्बन्ध में बापू ने कितने ही निर्देश हमें दिए।

बापू से मिलकर हम लोग बिड़ला हाउस ही में श्री चांदीवाला के पास गए। उसी समय राजकुमारी अमृतकौर बापू से मिलने बिड़ला हाउस आईं। हम लोगों को उन्होंने देखा भी। पर हमें अनदेखा कर वह आगे बढ़ गईं। दो ही मिनट बाद राजकुमारी शीघ्रता से उस कमरे में वापस आईं, जहां हम लोग बैठे थे। आते ही उन्होंने उषा बहन को गले से लगा कर कहा, "बापू से तुमने मेरी शिकायत क्यों की?"

उषा बहन ने कहा, "यह हजारों शरणार्थियों की जिन्दगी और मौत का सवाल है, जिसे आप छोटी बात समझ रही हैं।"

उसी समय राजकुमारी अपने साथ हमें नार्थ ब्लाक में अपने दफ्तर में ले गईं और तत्काल उन्होंने कई एम्बुलेंस गाड़ियां अम्बाला भेजने का निर्देश दिया। हुआ यह था कि राजकुमारी जब बापू से मिलने पहुचीं तो उन्होंने कहा, "राजकुमारी पहले अम्बाला के शरणार्थियों के स्वास्थ्य की व्यवस्था करो, तब मेरे पास आओ।" बापू के निर्देश पर उसी सप्ताह हजारों रजाइयां बड़े-बड़े ट्रकों में अम्बाला भेजी गईं। अम्बाला कैम्प 'महात्मा गांधी की जय' के नारों से गूंजने लगा। शरणार्थियों के लिए हजारों तम्बुओं और छोलदारियों की व्यवस्था भी एक सप्ताह के भीतर हो गई।

यह एक सच्चाई है कि शरणार्थियों को जितनी सहायता और जितनी सहानुभूति महात्मा गांधी से प्राप्त हुई, उतनी और किसी से प्राप्त नहीं हुई।

दिसम्बर 1947 की एक प्रातः मैं शरणार्थियों के एक बड़े डेपुटेशन

के साथ पुन. बापू के समीप पहुचा। इस डेपुटेशन मे मेहरचन्द खन्ना, चोइथराम गिडवानी, चौ० कृष्णगोपाल दत्त आदि थे। उन दिनों पश्चिम से आए कुछ शरणार्थियो ने दिल्ली के कुछ मोहल्लो से मुसलमानों को विस्थापित करने का प्रयास किया था। इस बात से बापू को बहुत रंज हुआ था। उन्होंने अपना यह रज डेपुटेशन को अभिव्यक्त भी किया था। उसके क्या बुरे प्रभाव देश पर तथा पूर्वी पाकिस्तान पर पड सकते है, यह सब बापू ने समझाकर कहा। डेपुटेशन के सब लोग इस बात से सहमत थे, पर किसी सदस्य ने कहा "बापू, आपकी बात ठीक है। शरणार्थियो को मुस्लिम मोहल्लो में पराये मकानों पर कब्जा करने का अधिकार नहीं है। पर कृपया यह बताइए कि ये हजारों शरणार्थी, जिनमे हजारों-लाखों बच्चे, स्त्रिया और बूढे भी हैं, दिल्ली की इस तेज़ सरदी मे कहां सिर छिपाएं?"

बापू ने बडी अनुभूति से कहा, "शरणार्थियो का दर्द और उनकी समस्याएं मैं खूब जानता और समझता हूं। मुझे अफसोस इस बात का है कि मेरी बात कोई नही सुनता। मेरा बस चले तो आज की परिस्थितियो में दिल्ली की कोई पूरी कोठी किसी एक परिवार के पास न रहने दू। आवास का पूरी तरह नियन्त्रण कर प्रत्येक परिवार को उसकी आवश्यकता के अनुसार न्यूनतम स्थान दिया जाए। इससे लाखो व्यक्तियो को गुजारे लायक जगह मिल जाएगी। शेष के लिए मिट्टी की दीवारो वाले हज़ारों घर कुछ ही दिनों मे बना लिए जा सकते है।" यह कहकर उन्होने दक्षिण अफ्रीका मे जरूरत पड़ने पर गुजारे लायक बहुत जल्द बना लिए गए आवासो का किस्सा सुनाया।

उसके बाद 30 जनवरी, 1948 तक मैं कई बार बिडला हाउस जाता रहा। इस बीच दो-तीन बार मेरी योजना के सम्बन्ध मे उन्होने बातचीत भी की। 18 जनवरी की सायं (जिस दिन बापू को प्रार्थना सभा में बम फेंकने की कोशिश की गई थी) भी मैं प्रार्थना सभा मे मौजूद था। वहा मैंने पाया कि बापू के प्रवचन के दौरान दो-तीन नौजवान उचक-उचककर प्रार्थना स्थल की पृष्ठभूमि वाली दीवार के पीछे की ओर झाकने का प्रयत्न कर रहे थे। एक दूसरे के कानो में वे कुछ बातें भी कर रहे थे। मैं उनके

पास पहुंचा, और मैंने उन्हे इन हरकतों से रोकने का प्रयत्न किया। मैंने उनसे कहा कि आप लोग यहा सभा में बाधा न डालें, आपस मे बातें करनी हों और उछलकूद करनी हो तो शान्ति से बाहर चले जाएं। उनमें से एक नौजवान मुझसे लड़ने पर उतारू होने ही वाला था कि उसके एक साथी ने आंखो के इशारे से उसे मना कर दिया। बम फटा, तो भी बापू नसी शान्ति से भाषण देते रहे। बाद मे जब मदनलाल पकड़ा गया और उसकी तलाशी ली गई तो बापू के कैम्प की तरफ से मैं उस तफ्तीश के समय मौजूद था। करीब दो घंटो के बाद जब प्रधानमन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू बिड़ला हाउस मे आए, तब भी मैं वहा मौजूद था। मैं इतने आवेश में था कि पंडितजी के आते ही मैंने उनसे कहा—"यह बम काण्ड साफ तौर से किसी साजिश का परिणाम है। यह नौजवान अकेला नही है। इसके कुछ साथी आज भी इस मीटिंग मे मौजूद थे।"

24 जनवरी, 1948 की बात है। गाधीजी उस दिन बहुत खुश थे। कुछ ही दिन पूर्व उनका अनशन समाप्त हुआ था और दिल्ली के सभी तबको के प्रतिनिधियो ने गाधीजी को विश्वास दिलाया था कि भारत की राजधानी मे अब कभी साम्प्रदायिक दगे नही होगे। बापू की अनशनजन्य कमजोरी अभी पूरी तरह दूर नही हुई थी। ख्याल था कि फरवरी के प्रारम्भ मे वह वर्धा जाएगे। वहां से वह पाकिस्तान जाना चाहते थे।

24 जनवरी के मध्याह्नोत्तर इसी सिलसिले मे पूर्वी बगाल से श्री हसन शहीद सुहरावर्दी और पाकिस्तान के पश्चिमी पजाब से मिया इफ्तखारुद्दीन उनसे मिलने आए थे। उक्त महत्वपूर्ण बातचीत के दौरान भी वे वहा विद्यमान थे। बापू अपने मसनद का सहारा लेकर बैठे थे। उनके सामने खद्दर की चादर से ढके एक बडे गद्दे पर सुहरावर्दी और मिया साहब चौकडी-सी मारे बैठे थे। चौकडी-सी मैं इसलिए कह रहा हू कि दोनो व्यक्ति अपनी टागो की स्थिति बार-बार बदलते थे। दाए-बाए बापू के निकट के पाच-छह और व्यक्ति बैठे थे। मैं भी उन्ही मे था।

बातचीत से यह स्पष्ट हो गया कि गाधीजी इस बात से सन्तुष्ट नहीं हैं कि पाकिस्तान से लाखो व्यक्ति अपना घरबार और पुश्तैनी जायदाद छोडकर भारत चले आए हैं और यहा शरणार्थियों का दयनीय जीवन बिता

दंगे-फसाद समाप्तप्राय हो गए थे। बापू का ख्याल था कि यदि पाकिस्तान में भी इसी तरह का वातावरण बन सके और वहां की सरकार भी अल्पमतों की रक्षा और समानाधिकार का जिम्मा ले, तो न सिर्फ पाकिस्तान से अल्पमत वालों के भारत में आने या भारत से मुसलमानों के पाकिस्तान जाने की प्रक्रिया बन्द हो जाएगी, अपितु जो लोग खतरे के डर से अपना घर-बार छोडकर दूसरे देश में आए हैं, वे सब या उनमें से बहुत से लोग स्वदेश वापस जाने को भी तैयार हो जाएंगे।

गांधीजी अनुभव कर रहे थे कि अब तक इस सम्बन्ध में वह भारत मे काफी काम कर चुके हैं और अब यह स्थिति आ गई है कि इस उद्देश्य से उन्हे पाकिस्तान जाना चाहिए। उन्होंने कायदेआज़म को इस सम्बन्ध में एक पत्र भी लिखा था, जिसका उत्तर उन्हें तब तक प्राप्त नही हुआ था। बापू यह भी चाहते थे कि कायदेआज़म उन्हे पाकिस्तान में आने का निमन्त्रण दें।

मियां इफ्तखारुद्दीन तथा श्री शहीद हुसन सुहरावर्दी बापू के उक्त विश्लेषण से पूरी तरह सहमत थे, पर उन्हें इस बात का विश्वास था कि जिन्ना साहब बापू को पाकिस्तान में आने का निमन्त्रण कभी नहीं देंगे; विशेषतः इस काम के लिए। बापू जो कुछ चाहते हैं, उससे सिद्धान्ततः सहमत होने पर भी उक्त दोनों मुसलमान सज्जनो का ख्याल था कि यह एक दुस्साध्य कार्य है कि जो लोग एक बार सब कुछ छोडकर दूसरे देश की शरण में चले आए हैं, वे पुन: अपनी जन्मभूमि मे जाने को तैयार हो जाएं। यह कार्य उन दोनों को स्वराज्य प्राप्ति के कार्य से भी अधिक कठिन प्रतीत हो रहा था।

बापू भी इस बात से सहमत थे कि यह अत्यन्त दुस्साध्य कार्य है। पर उन्हें इस कार्य के सहीपन पर पूरा विश्वास था और उनके लिए बस इतना ही काफी था। बापू का यह भी कथन था कि जिन्ना साहब एक बार यह कह चुके हैं कि उन्हे पाकिस्तान मे हिन्दुओं या सिक्खो का चले जाना पसन्द नही है। इससे उन्हें मेरे इस प्रयास मे पूरा सहयोग देना चाहिए। पाकिस्तान के गवर्नर जनरल की हैसियत से न सही, पर मुस्लिम लीग के सदर की हैसियत से मुझे पाकिस्तान बुलाने मे उन्हें एतराज नहीं होना चाहिए।

मियां इफ्तखारुद्दीन पंजाब मुस्लिम लीग के सदर थे। उन्होंने कहा—"पाकिस्तान के मुस्लिम लीग के सदर की बात जाने दीजिए। उन्होंने आपको नहीं बुलाया और न इस बात की मुझे उम्मीद है कि वह आपको कभी कोई दावतनामा देंगे। मगर पंजाब की मुस्लिम लीग के सदर की हैसियत से मैं आपको पश्चिमी पंजाब में तशरीफ लाने का दावतनामा देता हूं और मेरी गुजारिश है कि हमारे मेहमान बनकर आप जल्द से जल्द लाहौर तशरीफ लाएं।"

बापू ने कहा, "आप अपनी तरफ से तो मुझे दावतनामा दे रहे हैं, पर क्या आपको यकीन है कि पाकिस्तान की जनता भी इस दावतनामे के साथ है?"

मियांजी ने कहा, "आप जिस मकसद के लिए पाकिस्तान जाना चाहते हैं, उसके लिए तो अवाम को समझाना होगा। पर जहां तक आपके प्रति सम्मान-भावना का सम्बन्ध है, मैं आपको यकीन दिलाता हूं कि पाकिस्तान की जनता में भी आपके लिए उतनी ही गहरे सम्मान की भावना है, जितनी भारत की जनता में है।"

बापू की योजना और उसके उद्देश्य के सभी पहलुओं के सम्बन्ध में विस्तार से बातचीत हुई। सुहरावर्दी साहब तथा मियां साहब का गम्भीर आग्रह था कि और कुछ न भी हो सके तो कम से कम इतना तो हो जाए कि जितने अल्पमत के लोग दोनों राष्ट्रों में बाकी हैं, वे अपना वतन न छोड़ें इसी उद्देश्य से सही, बापू को अवश्य पाकिस्तान जाना चाहिए; और यह भी कि पाकिस्तान की यह यात्रा लाहौर से शुरू होनी चाहिए। उनका कथन था कि अगर यही प्रक्रिया जारी रही तो पूर्वी बंगाल से भी एक करोड़ से अधिक हिन्दुओं को हिन्दुस्तान चले आना होगा और हिन्दुस्तान से साढ़े चार करोड़ मुसलमानों को पाकिस्तान जाना पड़ेगा।

निश्चय यही हुआ कि 2 फरवरी को बापू वर्धा जाएंगे और वहां से निश्चित प्रोग्राम बनाकर मियां इफ्तखारुद्दीन को उसकी सूचना देंगे। इस मामले में उन्होंने स्पष्ट निश्चय कर लिया था कि यह दुस्साध्य कार्य उन्हें करना ही है।

पर विधाता के मन में कुछ और था। उस बातचीत के सिर्फ 6 दिन

बाद 30 जनवरी की सायंकाल प्रार्थना सभा में जाते हुए बापू शहीद हो गए। जो महान मस्तिष्क शायद इतिहास के रुख को भी बदल देता, एक अदने-से व्यक्ति द्वारा चलाई गई पिस्तौल की तीन गोलियों ने उसे सदा के लिए निष्क्रिय कर दिया!

यह सच है कि बापू की शहादत के समाचार से पाकिस्तान की जनता भी लगभग उतनी ही स्तब्ध और शोकमग्न हुई थी, जितनी भारत की जनता। लाहौर भर में किसी को कुछ भी कहने तक की जरूरत नहीं हुई थी और कुछ ही मिनटों में सभी कामकाज स्वयमेव बन्द हो गए थे। यहां तक कि झल्ली वाले भी अपने सामान को सहेज कर एकाएक उठ गए थे।

बापू के देहावसान के बाद लाहौर हाईकोर्ट की शोकसभा में एक प्रसिद्ध पाकिस्तानी मुसलमान वकील ने महात्मा गांधी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा था—"यह एक अजीब सचाई है कि आज उस महात्मा की वफ़ात के साथ पाकिस्तान की जड़ें सदा के लिए पक्की हो गई हैं। तमाम दुनिया में एक ही शख्स था, जिसमें यह ताकत थी कि वह तवारीख को भी बदल दे। यानी अभी तक जो कुछ हो गया है, उसे भी गांधीजी अपनी ताकत से बदल सकते थे। यह ताकत और किसी में नहीं है, कायदेआज़म तक में नहीं और मैं जानता हूं कि मैं इन लफ्जों से उस महान शख्सीयत को बहुत बड़ी ट्रिब्यूट्स दे रहा हूं।"

कौन कह सकता है कि यदि महात्मा गांधी सचमुच पाकिस्तान जा पाते तो भारत और पाकिस्तान के इतिहास ने कौन-सा नया मोड़ ले लिया होता।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से एक भेंट

फरवरी 1936 में शान्तिनिकेतन के हिन्दी समाज की ओर से जब मुझे वहां 'हिंदी कहानी साहित्य' के सम्बन्ध में एक निबन्ध पढ़ने का निमन्त्रण मिला तो, उसमें मुझे एक असाधारण उल्लास की अनुभूति हुई थी। विशेषतः यह जानकर कि उक्त निबन्ध जिस सभा में पढ़ा जाएगा, उसकी अध्यक्षता सम्भवतः गुरुदेव स्वयं करेंगे। उन दिनों पं० बनारसीदास चतुर्वेदी कलकत्ता से 'विशाल भारत' का सम्पादन कर रहे थे। शान्तिनिकेतन में हिन्दी समाज की स्थापना चतुर्वेदी जी के तथा डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के अध्यवसाय से हुई थी। निश्चित दिन कलकत्ता से हम बहुत से लोग एक साथ शान्तिनिकेतन के लिए रवाना हुए। चतुर्वेदी जी इस दल के मुखिया थे। श्री तथा श्रीमती सुदर्शन, श्री रामलाल तथा श्रीमती सत्यवती मल्लिक, अपने सुपुत्र केशव मल्लिक तथा बेटी कपिला सहित, श्री महेन्द्र शास्त्री, श्री तथा श्रीमती सुरेन्द्रनाथ तथा मौलवी जकरिया इस दल में सम्मिलित थे। लगभग एक दर्जन हिन्दी वालों का यह दल शान्तिनिकेतन के सुन्दर अतिथि भवन में ठहराया गया। हम लोग बोलपुर स्टेशन से दो टैक्सियों द्वारा जब शान्तिनिकेतन पहुंचे, शाम धीरे-धीरे रात में परिणत हो रही थी।

अशोक वृक्षों के एक सघन उपवन के बीचों-बीच बना यह सुन्दर और विशाल अतिथि-गृह उस समय के शान्तिनिकेतन की सबसे बड़ी और अच्छी इमारतों में गिना जाता था। ऊपर की मंजिल के जिस कमरे में मुझे अपने कुछ साथियों सहित ठहराया गया, उसके बारे में यह भी बता दिया गया कि काफी समय तक गुरुदेव स्वयं इसी कमरे में रह चुके हैं। बड़े आकार के उस स्वच्छ कमरे से मिला हुआ एक विस्तृत बरामदा है, जिसके ऊपर का भाग हरी वार्निश युक्त लकड़ी के फट्टों से ढक दिया गया है। बरामदे को घेरने वाली दीवार भी तीन फुट से कम नीची नहीं। यदि उन्मुक्त आकाश के नीचे बैठना हो तो उसी बरामदे का बीच का भाग पोर्टिको के ऊपर वाली छत से संयुक्त है। मुझे बताया गया कि गुरुदेव ने [illegible]

-का अधिकांश भाग इसी बरामदे में बैठकर लिखा है। मैं सचमुच भाव-विभोर हो उठा। साथी लोग जब कपड़े बदलने और बिस्तर लगाने में व्यस्त हुए, मैं इसी बरामदे में जा खड़ा हुआ। ऊपर की बत्ती मैंने बुझा दी। यह कृष्ण-पक्ष की रात थी। स्वच्छ आकाश मे तारे चमक रहे थे। उनके नीचे सघन बकुल वृक्षों के कलेवर, जो उक्त बरामदे से अधिक ऊंचे नही, अपितु लगभग उसके बराबर थे, अत्यन्त कवित्वपूर्ण प्रतीत हो रहे थे। जैसे अन्धकार की नदी पार करने को किसी विशाल शक्ति ने पक्तिबद्ध रूप मे काले पत्थर सजो दिए हो।

मालूम नही, कितनी देर तक मैं यह दृश्य देखता रहता, यदि भोजन के लिए हमारी प्रतीक्षा न की जा रही होती। शान्तिनिकेतन के विद्यार्थियो के भोजनालय मे हम लोगो के भोजन की व्यवस्था थी। पंजाब तथा उत्तर प्रदेश की दो बड़ी छात्राए उन दिनो शान्तिनिकेतन मे थी और उन्होने हम लोगों के लिए फुलके (रोटिया) बनाने मे सहायता दी थी। भोजनालय का वातावरण हमें अत्यन्त मधुर अपनत्व से भरा प्रतीत हुआ। यों भी गुरुकुल मे शिक्षा लेने के कारण मैं इस वातावरण से पूरी तरह परिचित था।

वापस आकर मैं पुन चुपचाप उसी पोर्टिको की छत पर जा खड़ा हुआ। रात अब और अधिक गहरी हो आई थी। इस सन्नाटे मे एकाएक काफी दूरी पर गीदड़ो की चिल्लाहट सुनाई दी। पाच-छह वर्षों से लाहौर में रहते हुए मैं गीदड़ो के निशीथ रोदन से उत्पन्न होने वाली सिहरन जैसे भूल चला था। याद आया, यह सब भी मेरी चिर परिचित है। तिमिरावृत घने वृक्षो की चारो ओर फैली चोटिया, रात का सन्नाटा और गीदड़ों की चीख-पुकार, यह सब मैं बरसो से, शायद जन्म के साथ से पहचानता हूं, क्योकि मेरा जन्म भी एक गांव मे हुआ है। पर यह अनुभूति कि मैं आज उस स्थल पर खड़ा हुआ हूं, जहां गीतांजलि लिखी गई है, मुझे एक अननुभूत उल्लास दे रही है।

यह क्या ! क्या यह मेरे कानो का भ्रम है। गीदड़ो का निशीथ रोदन शिथिल पड़ गया है और उसके प्रतिरोध स्वरूप एक अन्य दिशा से अत्यन्त मधुर सहगान की लय मुझे सुनाई दे रही है। नही, यह भ्रम नही है, क्योंकि संगीत की यह लय क्रमशः अधिक स्पष्ट और अधिक मोहक होती चली जा

रही है। उसके बाद मुझे दिखाई दिया कि प्राची दिशा में वृक्षों के अन्तराल में से कुछ टिमटिमाते प्रकाश इसी बंगले की ओर बढ़ते चले आ रहे हैं। मैं पूरी तरह आविष्ट-सा हो गया। शान्तिनिकेतन के इस रात्रि वैकालिक समारोह की बात मैंने सुनी जरूर थी, पर वह इतना मधुर और इतना कवित्वपूर्ण और इतना रोमांचित कर देने वाला होगा, इसकी मुझे कल्पना तक भी नहीं थी।

एकाएक गीतांजलि का एक गीत मुझे स्मरण हो आया—

'सखि री।
दिन ढल गया—
सन्ध्या धरती पर उतर आई,
अब अपनी गागर भरने घाट पर चलना
जल धारा के कलकल स्वर से
सन्ध्या के आकाश में बेचैनी भर गई है।
वह स्वर मुझसे अनवरत कह रहा है—
अपनी गागर भरने घाट पर चलना।'

मैं न जाने किस दुनिया में खो गया था कि एकाएक अपने नाम की पुकार सुनकर चौंक उठा। मालूम हुआ, मेरी खोज हो रही है। मुझसे कहा गया कि एक जरूरी बातचीत के लिए चतुर्वेदी जी मुझे बुला रहे हैं। मैं जैसे बैठा था, वैसे ही चल दिया। हरिकेन की सहायता से बकुल उद्यान पार कर जब मैं निर्दिष्ट कमरे में पहुंचा तो पाया कि शान्तिनिकेतन के लगभग बारह उपाध्याय वहां एकत्र हैं। मैं सचमुच घबरा गया। औपचारिक परिचय के बाद जब एकाएक मुझसे कहा गया कि कहानी साहित्य के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए ये सब महानुभाव एकत्र हुए हैं, तो मेरी घबराहट और भी अधिक बढ़ गई। सच बात तो यह है कि कुछ ही मिनट पहले की अनुभूति में मैं अभी तक जैसे आविष्ट था। मालूम नहीं किस तरह परीक्षा की ये घड़ियां मैं उत्तीर्ण कर पाया। मुझे कुछ भी स्मरण नहीं कि मुझसे क्या प्रश्न पूछे गए और मैंने उनका क्या जवाब दिया। मुझे इतना ही याद है कि उन प्रोफेसरों में कृष्ण कृपलानी जी थे, जो बाद में

मेरे मित्र बने।

दूसरे दिन मेरी दशा भावाविष्ट-सी नहीं रही, क्योंकि उस शाम मुझे अपना निबन्ध पढ़ना था और बाद में पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अपने को तैयार करना था। शान्तिनिकेतन को अब मैंने एक तटस्थ दर्शक के समान देखने का प्रयत्न किया और पाया कि यह संस्था सचमुच महान आदर्शों से प्रेरित होकर संचालित की जा रही है।

दोपहर को मालूम हुआ कि गुरुदेव हिन्दी समाज की बैठक में नहीं आ सकेंगे, क्योंकि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। उनके डाक्टर ने हम लोगों को केवल पंद्रह मिनट का समय दिया, ताकि उनके दर्शनों के अतिरिक्त पढ़े जाने वाले निबन्ध की संक्षिप्त रूपरेखा भी उन्हें बताई जा सके।

गुरुदेव से उस मध्याह्नोत्तर जो भेंट हुई वह न सिर्फ पूरी तरह औपचारिक तथा हार्दिकतापूर्ण बन गई, अपितु उसके द्वारा गुरुदेव की कुछ रचनाओं पर भी गहरा प्रकाश पड़ा। हम लोगों के सौभाग्य से गुरुदेव उस दिन असाधारण रूप से प्रसन्न मुद्रा में थे। इस भेंट का वर्णन श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने, भेंट के दूसरे दिन ही लिख दिया था जो मैं यहां उन्हीं के शब्दों में दे रहा हूं—

"सन्ध्या समय ठीक चार बजे हम लोग उनकी सेवा में उपस्थित हुए। कवीन्द्र को ऐसा ख्याल था कि दो-तीन आदमी ही होंगे, पर यहां हम लोग पंद्रह यात्री हो गए थे। श्रीयुत चन्द्रगुप्त जी तथा श्रीयुत सुदर्शन जी के अतिरिक्त श्रीमती सुदर्शन जी, श्रीमती सत्यवती मल्लिक और उनके पति श्रीयुत मल्लिक, श्रीयुत सुरेन्द्र विद्यालंकार और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कौशल्यादेवी, मौलवी जकरिया साहब, श्री महेन्द्र शास्त्री इत्यादि कितने ही व्यक्ति जब कवीन्द्र के निवास-स्थान पर पहुंचे, तो वे कुछ घबराए, और उन्होंने अपने आदमी को आज्ञा दी कि जल्दी से कुर्सी-मूढ़े लाओ। फिर मुझसे कहा "पहले से कह तो देते, कितने आदमी आवेंगे। यहां तो स्थान की भी कमी है।"

दरअसल वहां जगह की कमी थी। कवीन्द्र अब मिट्टी के मकान में रहते थे, और उसके बरामदे में पंद्रह आदमियों के कुर्सी-मूढ़ों पर बैठने लायक जगह नहीं है। किसी प्रकार हम लोग इधर-उधर बैठ गए। मेरे मन

कुछ रहस्यमय भी था। ज्यों-ज्यों मैं ग्रामीण लोगों के निकट संसर्ग में आता गया, मेरा हृदय उनकी ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया। उस समय वे मुझे एक दूसरी ही दुनिया के आदमी दिखते थे—एक ऐसी दुनिया के, जो कलकत्ता की दुनिया से बिलकुल निराली थी। मेरी प्रारम्भिक कहानियो मे उस ग्रामीण जीवन के ससर्ग का ही वर्णन है। इन कहानियो मे यौवन की ताजगी है। मेरी इन कहानियो के पहले इस तरह की कोई चीज बगलाभाषा में नही थी। निस्सन्देह बकिमचन्द्र ने कुछ कहानियां लिखी थी, लेकिन वे रोमाण्टिक ढग की थी। मेरी कहानियों में ग्रामीण जनता की मनोवृत्ति के दर्शन होते थे। उनके चारों ओर ग्रामीण वायुमण्डल था। इसलिए जब मैं इन कहानियो को फिर से पढने के लिए बैठता हूं (इनमे से कितनी ही तो मैं भूल ही गया हूं। मेरी स्मरण शक्ति ऐसी खराब है कि कभी-कभी यह भी भूल जाता हूं कि कल मैंने क्या लिखा था।) तो ये कहानियां मेरे लिए बिलकुल नई-सी प्रतीत होती हैं। इन कहानियों से मेरी आखों के सामने एक बार फिर ग्रामीण जीवन का वह मनोहर वायुमण्डल घूम जाता है। मेरी प्रारम्भिक कहानियों में कुछ चीज ऐसी है, जो ससार के किसी भी देश के आदमी को रुच सकती है, क्योकि मनुष्य-स्वभाव तो दुनिया में हर जगह एक-सा ही है। मेरी पिछली कहानियों में यह ताजगी, वह कोमलता नही है।"

श्रीयुत सुदर्शन : "क्या आपने अपनी कहानियों के कुछ चरित्र जीवित स्त्री-पुरुषों से लिए थे ?"

रवीन्द्र : "हां, कुछ चरित्रों के लिए मुझे जीवित व्यक्तियों से प्रेरणा अवश्य मिली थी। उदाहरण के लिए, मेरी 'छुट्टी' नामक कहानी लीजिए। उसमे जिस लडके का जिक्र है, वैसा एक लड़का मैंने ग्राम में देखा था। फिर मैंने कल्पना की कि यदि इस प्रकार के प्रेमी तथा कोमल स्वभाव के लड़के को सहानुभूतिविहीन भाई के पास कलकत्ता में रहना पडे, तो इसपर कैसी बीतेगी। कहानी का बैक ग्राउण्ड (पृष्ठभाग या भूमिका) यही है।"

श्री चन्द्रगुप्त ने पूछा : "जब आप लिखने बैठते हैं तो सृजन के अतिरिक्त कोई अन्य ध्येय भी आप के सम्मुख रहता है क्या ? जैसे किसी मन्तव्य की पुष्टि ? या किसी दर्शन का विवेचन ?"

रवीन्द्र . "नही। सृजन प्रकिया इतनी कोमल होती है कि किसी दर्शन का बोझ वह सहन नही कर पाती। किसी तरह का पूर्वाग्रह रचना को कमजोर बना देगा।"

श्री चन्द्रगुप्त : "आप अपनी कहानियों में सर्वोतम किसे समझते हैं ?"

रवीन्द्र ने हस कर कहा : "मैं इसका निर्णय नहीं कर सकता। तरह-तरह की कहानिया है और भिन्न-भिन्न दृष्टियों से लोग उन्हें 'सर्वोतम' कह सकते है।"

इसके बाद रवीन्द्र ने अपनी युवावस्था के उन मनोहर दिनों का वर्णन, जब कि वे नदी में नौका पर निवास करते थे, इतने आकर्षक ढग से किया कि हम लोग मन्त्रमुग्ध-से रह गए। फिर उन्होंने कहा—"एक दूसरी कहानी के लिए मुझे ग्रामीण जीवन से मसाला मिला था। इस कहानी मे जैसी लडकी का जिक्र किया गया है, वैसी लड़की मैंने ग्राम में देखी थी। वह विलकुल उद्दण्ड प्रकृति की और असाधारण लड़की थी। उसकी स्वाधीनता पर नियन्त्रण करने वाला कोई नही था। नित्य प्रति वह मुझे दूर से देखा करती थी, और कभी-कभी अपने साथ एक बच्चे को लाया करती थी और मेरी ओर उंगली का इशारा करते हुए मुझे, उस बच्चे को दिखलाया करती थी। इसी प्रकार वह बहुत दिनों तक हर रोज़ आती रही। एक दिन वह नही आई। उस दिन मैंने कुछ ग्रामीण स्त्रियों को, जो नदी से पानी भरने के लिए आई थी आपस मे बातचीत करते सुना। वे स्त्रियां कह रही थीं—"लड़की बड़ी उद्दण्ड है। उसे बिलकुल सलीका नहीं। ससुराल मे उस पर कैसी बीतेगी ?" दूसरे दिन मैंने देखा कि नदी में एक छोटी-सी नाव पड़ी हुई है। जबरदस्ती उस लड़की को नाव पर बिठलाया गया। सम्पूर्ण दृश्य बड़ा करुणा जनक था। लड़की की एक सहेली छिपकर आंसू बहा रही थी और कई सहेलियां उसे ढाढस बंधा रही थी। थोड़ी देर में नाव चल दी आखों से ओझल हो गई। मेरी 'समाप्ति' नामक कहानी की भूमिका यही से मिली थी।

"फिर वहां एक पोस्टमास्टर थे। वे मेरे पास आया करते थे। उन्हें घर छोडे बहुत दिन हो गए थे, इसलिए वे वापस जाने के लिए बहुत उत्कंठित थे। उन्हें अपने चारो ओर का वातावरण पसन्द नही था, और

वे समझते थे कि उन्हें मजबूरन जंगलियों में रहना पड़ रहा है। छुट्टी लेने की उनकी इच्छा इतनी बलवती हो उठी थी कि वे नौकरी से इस्तीफा देने की बात भी सोचते थे। वे मुझे ग्रामीण जीवन की घटनाएं बतलाया करते थे। इस प्रकार मुझे अपनी 'पोस्टमास्टर' शीर्षक कहानी के एक पात्र का मसाला मिला था।"

मैंने पूछा : " 'काबुलीवाला' का विचार कैसे आया। 'काबुली वाला' एक ऐसी कहानी है, जिसकी 'अपील' सार्वभौमिक है। हमारी तरफ वह बहुत लोकप्रिय है।"

कवि : "यह कहानी कल्पना की सृष्टि है। एक काबुली था जरूर। वह हमारे यहां आता था, और हम सब उससे बहुत परिचित हो गए थे। मैंने सोचा कि उसके भी एक छोटी लड़की होगी, जिसे वह अपनी मातृभूमि में छोड़ आया होगा और जिसकी वह याद किया करता होगा।"

मैंने कहा : "मुझे 'काबुलीवाला' का वह भाग विशेष मनोरंजक मालूम होता है, जहां वह कहता है कि मैं ससुराल जाता हूं।"

कवि : "हमारी तरफ लोग अक्सर जेलखाने को 'श्वसुरबाड़ी' कहा करते हैं। क्या आपकी तरफ भी ऐसा ही कहा जाता है ?"

हमारे दल में से किसी ने उत्तर दिया : "हां, लोग जेल को ससुराल कहा करते हैं।" इस पर सब-के-सब हंस पड़े।

चन्द्रगुप्त जी ने पूछा : "आपने अपनी बाद की कहानियों में एक नई शैली ग्रहण की है। स्वयं आपको अपनी आरम्भिक कहानियां अब कैसी लगती हैं ?"

रवीन्द्र ने उत्तर दिया : "मेरी बाद की कहानियों में पहले जैसी ताजगी नहीं है, यद्यपि उनका मनोवैज्ञानिक मूल्य अधिक है और उनमें समस्याओं के समाधान की चेष्टा की गई है। सौभाग्य से जब मैं बिलकुल युवक था, तब मेरे दिमाग के सामने किसी तरह की राजनैतिक समस्याएं नहीं थीं। अब तो तरह-तरह की अनेक समस्याएं हैं, जो कहानी लिखते समय अज्ञात में ही उठ खड़ी होती हैं। मुझ पर चारों तरफ के वातावरण का बहुत शीघ्र प्रभाव पड़ता है, इसलिए जब तक मैं एक विशेष प्रकार के वातावरण में न होऊं, तब तक मैं कोई कलापूर्ण चीज़ नहीं पैदा कर सकता।

जब मैं युवक था, तब जो कुछ भी मैं देखता था, वह मुझे बड़े शक्तिशाली ढंग से प्रभावित कर देता था, इसलिए मेरी आरम्भिक कहानियों का साहित्यिक मूल्य अधिक है, क्योंकि उनमे स्वत: प्रेरणा है। लेकिन अब बात दूसरी है। मेरी बाद के युग की कहानियों मे आवश्यक टेकनिक मौजूद है, लेकिन काश कि मैं एक बार फिर अपने पुराने जीवन को वापस पा सकता। मेरे जीवन में कई अलग-अलग स्तर हैं, मेरी सारी रचनाएं उतने ही युगों में बांटी जा सकती हैं और वे उन युगों की भावनाओं को प्रकट करती हैं। हम सबके इसी एक जीवन में ही कई अवतार हो जाते हैं। हम जीवन मे बारम्बार जन्म लेते हैं। जब हम इस जीवन के एक युग को समाप्त करके दूसरे में प्रवेश करते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है, मानो हमारा नया जन्म हुआ हो। यही हाल हमारे साहित्यिक जीवन का भी है।

"मेरी बात तो यह है कि मेरे जीवन के इन युगों में इतना बड़ा अन्तर है, कि मैं अपने साहित्यिक पूर्व जन्मों की बात तक भूल जाता हूं। पिछली बार जब मैं अपनी प्रारम्भिक कहानियों का प्रूफ पढ़ रहा था, तब स्वयं मुझे उनमें एक ताज़गी जान पड़ती थी। ऐसा मालूम होता था, मानो वे किसी छायामय अतीत से निकलकर आ रही हों। उनमें कुछ अस्पष्टता थी और उनसे मुझे अपने आरम्भिक जीवन की याद आ गई, वैसे ही, जैसे दिल्ली की लड़की अपने बीते हुए जीवन की याद करती है।"

प्रत्यक्षतः रवीन्द्र का आशय दिल्ली की शान्तिदेवी से था, जिसकी कहानी समाचारपत्रों में निकल चुकी है। तत्पश्चात् मैंने कहा : "हिन्दी में एक नए ढग की कहानियां आ रही हैं। इस नये ढंग के प्रतिनिधि हैं लाहौर के श्रीयुत अज्ञेय, जो अपनी कहानियों मे क्रान्तिकारी मनोवृत्ति का चित्रण काफी सफलता के साथ करते हैं। अज्ञेय जी ने मुझसे कहा था कि मैं अपना उपन्यास पूरा किए बिना रवीन्द्र का 'चार अध्याय' नहीं पढ़ूंगा, क्योंकि इससे शायद मेरे उपन्यास पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़े।"

रवीन्द्र ने हमारे दल को बतलाया कि अपनी 'चार अध्याय' नामक पुस्तक में जो कथनोपकथन उन्होने दिए हैं, संयोग से ठीक वैसी ही बातें हुई भी हैं, जैसा कि क्रान्तिकारियों की डायरियों से ज्ञात हुआ। कवि ने कहा, "वे सब केवल कल्पना की उपज हैं। मैंने यही कल्पना की थी कि उन परि-

स्थितियों में वे लोग कैसी बातें करते होंगे। विचार और आदर्श हवा में मौजूद हैं, और हमारे दिमाग बिलकुल रेडियो के सेट की भांति हैं। कवि के दिमाग का सेट औरों की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होता है, इसलिए वह उन्हें आसानी से ग्रहण कर लेता है और वह तैरते हुए भावों को सफलतापूर्वक चित्रित भी कर सकता है। क्रान्तिकारियों के साथ तो मेरा कोई सम्बन्ध था ही नहीं।"

अब बातचीत हिन्दी-कहानियो की ओर मुड़ गई। मैंने कहा,"दुर्भाग्यवश हिन्दी कहानियों का बंगला मे अनुवाद नहीं हुआ। मि० एण्ड्रूज ने वायदा किया है कि वे प्रेमचन्द जी की कहानियों के अंगरेजी अनुवाद का सम्पादन कर देंगे, लेकिन प्रेमचन्द जी बड़े शरमीले हैं। मैंने कई बार उन्हें आश्रम मे लाने का प्रयत्न किया, पर सफल न हो सका।"

रवीन्द्र ने मुस्कराते हुए कहा, "यह न भूलिएगा कि स्वभाव से मैं भी बहुत शरमीला हूं। यद्यपि मैं सारी दुनिया घूम आया हूं।"

श्रीयुत चन्द्रगुप्त ने कहा कि अंगरेजी मे एक ऐसी पुस्तक होनी चाहिए जिसमें हिन्दी के प्रधान गल्प-लेखकों की कृतियो का चयन हो। रवीन्द्र ने इस विचार को पसन्द किया और कहा, "हम लोग एक दूसरे को मुश्किल से जानते हैं। हम एक दूसरे की मनोवृति को भी नही पहचानते। हम एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में नहीं आते। हम लोगों में सचमुच ही पार्थक्य हो गया है। यही अज्ञान दुष्भावना पैदा करता है और यही उस प्रान्तीयता की बुनियाद है, जो आजकल चारों तरफ फैली नजर आती है। प्रान्तीयता का यह भाव मूर्खतापूर्ण और शरारत से भरा है। जैसा कि मैंने कहा है, इसका मूल है लोगों का एक दूसरे के बारे में अज्ञान। हम आप लोगों को नहीं जानते, हमारे लिए मानो विदेशी हों और आपके लिए हम। हमे एक-दूसरे से परिचित होना चाहिए। कवि कहते गए—"खेद है कि मैं आप लोगो की सुन्दर भाषा नही जानता। लड़कपन मे मुझे हिन्दी पढने का मौका नहीं मिला। दुर्भाग्यवश मेरे मित्र बनारसीदास उस समय पैदा ही नही हुए थे, जब मेरा जन्म हुआ था।"

रवीन्द्र के साथ समूची बातचीत इसी प्रकार के मधुर हास्य से ओत-प्रोत थी। जिस समय कवि ने मुस्कराते हुए कहा, "मुझे स्वयं अपनी रचनाओं

का विस्तार देखकर लज्जा होती है। मैंने सात वर्ष की उम्र मे लिखना शुरु *किया था, और अब तक लिखता जाता हू, जब छियत्तर का हो चुका हूं"* तो सबके सब जोर से हंस पड़े।

रवीन्द्र के साथ यह वार्तालाप वास्तव में एक मानसिक भोज था। पन्द्रह मिनट के बजाय चालीस मिनट हो चुके थे। इस पर कवि ने कहा— "जब मैं कम समय निश्चित करूं, तब मेरी बात सचमुच ठीक न मानिएगा, क्योंकि मुझे स्वयं लोगों मे बातचीत करने में आनन्द आता है।"

हम सबने कवि को धन्यवाद दिया और विदा ली।

शान्तिनिकेतन की उक्त यात्रा के बाद मैं लगभग दस बार पुन: उस पुण्यतीर्थ की यात्रा को गया हूं। विशेषत आचार्य क्षितिमोहन सेन, जिन्होंने उस दिन की सभा का अध्यक्षत्व ग्रहण किया था, की मुझ पर विशेष कृपा हो गई थी और मैं तब से शान्तिनिकेतन को अपनी ही संस्था समझने लगा। फिर भी उक्त प्रथम यात्रा की याद मेरे मनस्तल पर अमिट रूप से अंकित है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर – लाहौर में

इस सदी के चौथे दशक के प्रारम्भ ही में पंजाब यूनिवर्सिटी की स्टूडेंट यूनियन राष्ट्रीय विचारों के विद्यार्थियों के हाथ में आ गई थी। यों लाहौर अंग्रेजी सरकार के पिट्ठुओं का केन्द्र था, पर पंजाब का युवक वर्ग—उसमें भी किशोर राष्ट्रीय पुनर्जागरण की भावनाओं से प्रभावित हो रहा था। शहीद भगतसिंह से प्रेरणा लेकर सभी वर्गों के कुछ पंजाबी विद्यार्थी क्रान्तिकारियों में भी सम्मिलित हो रहे थे। उन्ही दिनों पंजाब यूनिवर्सिटी के दीक्षान्त संस्कार में एक विद्यार्थी ने गवर्नर पर आक्रमण करने का प्रयास भी किया था।

1937 के प्रारम्भ में पंजाब के विद्यार्थियों ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर को लाहौर आने का निमन्त्रण दिया, जो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। उन्होंने यह भी लिखा कि वह कुछ दिन लाहौर में रहना भी पसंद करेंगे। विद्यार्थियों की मनमांगी मुराद पूरी हो गई। श्री धनीराम भल्ला की कोठी शहर से बाहर मुलतान रोड पर थी। भल्ला साहब ने विद्यार्थियों से अनुरोध किया कि गुरुदेव उन्ही के बंगले पर ठहरें। सभी तरह की पूरी व्यवस्था वही करेंगे।

स्टूडेंट यूनियन की कार्य समिति के कुछ विद्यार्थी मेरे मित्र थे। कुछ विद्यार्थी चाहते थे कि स्वागत समिति गुरुदेव के स्वागत के लिए एक विशाल और प्रभावशाली स्वागत समिति बनाई जाए और इसके लिए यथेष्ट चन्दा एकत्र हो गया था। अध्यक्षता के लिए भारत कोकिला सरोजिनी नायडू से अनुरोध किया गया। पर बहुमत की राय थी कि उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवि सर मुहम्मद इकबाल को उस स्वागत समिति का अध्यक्ष बनाया जाए। यह निश्चय हुआ कि पहले इकबाल साहब से पूछ लिया जाए।

प्रो० देवराज सेठी (जो पीपल्स सोसाइटी के सदस्य थे और सोसाइटी की ओर से विद्यार्थियों में संगठन का कार्य करते थे) और मुझे इस कार्य के लिए सर मुहम्मद इकबाल के पास भेजा गया। उनकी कोठी रेलवे रोड पर थी।

उसी सांझ हम दोनों इकबाल साहब के घर पहुंचे। टांगा हमने फाटक के बाहर ही छोड़ दिया। लॉन पार कर हम दोनो कोठी में बरामदे पर पहुंचे। देखा कि एक किनारे एक खाट बिछी हुई है। उस पर कुछ भी बिछा हुआ नही है। उस खाट पर मसनद के सहारे टांगें फैलाकर एक सज्जन हुक्का पी रहे हैं। शरीर पर एक सादा कुरता था और वह सलवार पहने हुए थे जो बहुत साफ नहीं थी। स्पष्टतः हमने उन्हे सर इकबाल का मुन्शी समझा। पास जाकर मैंने पूछा—"सर इकबाल घर पर हैं ?"

"मैं ही इकबाल हूं।"

हम दोनों ने आदर से बन्दगी की और कहा,"हम एक गुजारिश लेकर आए हैं।"

"फरमाइए" कहकर सर इकबाल ने हमें पास ही रखे मूढ़ों पर बैठने को कहा, "यहा तशरीफ रखिए।"

हम दोनो ने अपनी मन्शा उन्हें बताई और कहा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लाहौर तशरीफ लाने पर उनका इस्तकबाल आपही को करना चाहिए।

"नहीं। मैं यह काम नही कर सकूगा।"

"किस वजह से।"

"मेरी तबीयत बहुत अच्छी नही है। मैं अधिक बाहर आता-जाता नही हूं।"

उसी दिन के 'ट्रिब्यून' मे एक खबर छपी थी कि हाईकोर्ट में एक केस के सिलसिले में इकबाल ने यह कहा और वह कहा। मैंने उस ओर उनका ध्यान खीचा।

जरा-सा मुस्करा कर सर इकबाल बोले, "मेरा और टैगोर का रवैया एकदम मुख्तलिफ है। मैं उनके इस्तकबाल मे हिस्सा नही लूंगा।"

मैंने कहा, "मगर वह ऊंचे दर्जे के शायर तो है। नजरिया मुख्तलिफ होने मे कोई हर्ज नही है। अदब मे सभी नजरियों के लिए जगह है।"

"नही। टैगोर हवाई शायर हैं। उनकी शायरी का असलीयत से कोई ताल्लुक नही है। इस तरह की शायरी को मैं नापसंद करता हूं। मुझे माफ कीजिए, मैं आपका यह दावतनामा कबूल नही कर सकूगा।"

इसके बाद कुछ भी कहना व्यर्थ था। प्रणाम कर हम दोनों चले आए।

तब स्वागत समिति की अध्यक्षता के लिए सरोजिनी नायडू से अनुरोध किया गया, जो उन्होंने खुशी से स्वीकार किया।

समारोह बहुत सफलता से सम्पन्न हुआ। श्रीमती नायडू और गुरुदेव दोनों के भाषण अविस्मरणीय थे। महीनों तक पंजाब में उस समारोह की चर्चा रही।

समारोह के बाद भी गुरुदेव लाहौर में ही रहे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वे घनीराम भल्ला की कोठी पर ठहरे।

रोज प्रात:काल वहां एक सभा जुटती थी, जिसमें पंजाबी संगीत आदि के बाद गुरुदेव का अंग्रेज़ी में प्रवचन हुआ करता था। लाहौर के सैकड़ों नर-नारी इन सभाओं मे उत्साह के साथ सम्मिलित हुआ करते थे और उनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। मैं भी इस अवसर पर नियमित रूप से जाया करता था। पर मेरा इरादा यह था कि गुरुदेव से पृथक मुलाकात के लिए मैं उनका कीमती समय नही मागूंगा।

पर एक दिन परिस्थिति कुछ विचित्र-सी हो गई। लाहौर मे उन दिनों सरदी बहुत थी और उस दिन बूंदाबादी हो जाने से उक्त सभा बड़े हॉल मे की गई। उस दिन आठ-दस प्रसिद्ध सिक्ख रागियों को विशेष रूप से निमंत्रित किया गया था। उस बन्द कमरे के भीतर जब इन रागियों ने गान प्रारम्भ किया तो उस गान का उठान ही बहुत ऊंचे स्वर में किया गया। धीरे-धीरे यह संगीत और भी अधिक ऊंचा होता चला गया। गुरुदेव सिक्ख गुरुओ के तथा पंजाबी वीरता के बहुत प्रशंसक थे। पर मैं देख रहा था कि वह अत्यंत ऊंचा स्वर वह बड़ी कठिनता से सहन कर पा रहे थे। मैंने सभा के सयोजक महोदय का ध्यान इस ओर खीचा, पर वह रागियों से कुछ भी कह सकने में अपने को असमर्थ पा रहे थे। उधर राग का स्वर उच्च से उच्चतर हुआ और क्रमश: उस बन्द कमरे में उच्चतम की सीमा को छूने लगा। एकाएक गुरुदेव ने अपने दोनों कान दोनो हाथों से बन्द करते हुए कहा—"नो मोर प्लीस! नो मोर प्लीस!" (और नहीं। कृपया और नही!) और मच से उठकर वह अपने कमरे की ओर चले गए।

सभा में एकाएक हलचल-सी मच गई। मुझे मालूम हुआ कि गुरुदेव पर इस सब का काफी बोझ पड़ा है। उन्होने अपने मन्त्री से कह दिया कि

कुछ समय तक वह अपने कमरे में अकेले रहेंगे।

सभा में सम्मिलित होने के लिए आए अधिकांश लोग निराश होकर लौट गए, क्योंकि उस दिन गुरुदेव का प्रवचन नहीं हुआ। मेरे साथ बहन सत्यवती मल्लिक और उनकी दो बहनें थीं, जो उन दिनों लाहौर के एक कालेज में पढ़ रही थीं। ये तीनों बहनें गुरुदेव से मिलने को बहुत उत्सुक थी। लगभग आध घंटा बाद मैंने गुरुदेव के मन्त्री को अपना परिचय दिया, शान्तिनिकेतन वाली भेंट की याद दिलाई गई और कहा कि गुरुदेव की खिन्नता दूर करने के लिए हम लोग उनसे मिलना चाहते हैं।

यह अनुमति बहुत शीघ्र मिल गई। उनके कमरे का बन्द दरवाजा धीरे से खोला गया और हम लोग भीतर प्रविष्ट हुए। गुरुदेव एक ग्लेज्ड बरामदे में एक आराम कुरसी पर बैठे हुए बड़े ध्यान से अपने बायीं ओर लगभग एक गज दूर पर रखी एक तिपाई की ओर देख रहे थे। उनका ध्यान उसी ओर था कि मैंने उस स्थान का पर्यवेक्षण किया। इस बरामदे के चौड़े शीशों में से बाहर की धुंध और बूंदाबांदी बहुत सुन्दर दिखाई दे रही थी। गुरुदेव ने अपने पैर एक तिपाई पर फैलाए हुए थे और उनकी टांगें तथा पैर एक सुन्दर शाल में लिपटे हुए थे। नीचे एक गलीचा बिछा हुआ था। दूरी पर कुछ कुर्सियां रखी थी। गुरुदेव को नमस्कार कर हम सब उनके एकदम निकट उसी गलीचे पर बैठ गए। गुरुदेव का चेहरा अभी तक गम्भीर दिखाई दे रहा था, यद्यपि अपने चेहरे पर मुस्कराहट लाकर उन्होंने हम लोगो के नमस्कार को स्वीकार किया।

शान्तिनिकेतन सम्बन्धी कुछ पुरानी यादों की चर्चा के बाद श्रीमती मल्लिक ने कहा, "गुरुदेव, मेरी ये दोनों बहनें शान्ता (बाद मे डाक्टर बलराम की पत्नी) और सन्तोष (बाद मे श्री बलराज साहनी की पत्नी) आपका आशीर्वाद लेने आई हैं। ये दोनों गीतांजलि का कोई गीत आपको गाकर भी सुना सकती हैं।"

गुरुदेव ने दोनों बहनो के सिर पर स्नेह भरा हाथ फेरा और मुस्करा कर पूछा, "तुमने गीतांजलि पढ़ी है।"

"जी हां!"

"किस भाषा में ?"

श्रीमती मल्लिक ने कहा,"मैंने बंगला में और इन दोनों ने अंग्रेजी मे।"

गुरुदेव ने मुझ से कहा, "हाल ही मे गीतांजलि का उर्दू अनुवाद भी हुआ है। तुमने वह अनुवाद पढा है ?"

मैंने कहा, "मुझे खेद है गुरुदेव कि मैं उर्दू नही जानता।"

गुरुदेव ने कहा, "मैं जानना चाहता था कि वह अनुवाद कैसा हुआ है। यों गुरुदयाल मल्लिक उस अनुवाद से सन्तुष्ट हैं।"

इसी समय मुझे अपने पीछे से एक अजीब तरह भी हल्की-सी ध्वनि सुनाई दी। मैंने उस तरफ देखा। मुझ से कुछ ही इंचों के अन्तर पर वह तिपाई पडी थी, इस जगह प्रवेश करते ही जिसकी ओर एकटक दृष्टि से ताकते हुए हम लोगों ने गुरुदेव को पाया था। अब मैंने जरा ध्यान से उधर देखा तो मालूम हुआ कि उस तिपाई पर मक्खियों को चिपका लेने वाला एक कागज (फ्लाई पेपर) रखा है और उसपर बहुत बड़ी सख्या में मक्खियां चिपकी हुई हैं। यह विचित्र-सी ध्वनि उन्हीं मक्खियो की मृत्यु भय भरी भनभनाहट थी। मैं उठा और मैंने उस तिपाई को उठाकर दूर ले जाना चाहा, तो पाया कि गुरुदेव भी उसी ओर देख रहे है और उनकी उस दृष्टि से यह स्पष्ट हो गया कि उन्हें उस तिपाई का हटाया जाना पसन्द नही है। इस बात का प्रमाण भी तत्काल मिल गया। मैं उस छोटी तिपाई को लेकर उस ग्लेज्ड बरामदे के साथ वाले कमरे के द्वार तक पहुंचा ही था कि उनके मन्त्री महाशय शीघ्रता से मेरे पास आए और उन्होने धीरे से मुझसे कहा कि तिपाई हटाकर मैंने ठीक नहीं किया। साथ ही साथ बीसों भरी हुई और बीसों मृत्युभय से भनाभना रही मक्खियों से पूरित उस मक्खी-कागज़ सहित वह तिपाई उन्होने मेरे हाथ से ले ली और उसे पुन. उसी स्थान पर रख दिया।

गुरुदेव के पास वापस आकर मैंने उनसे क्षमा याचना करते हुए कहा, "यह कोठी 'नवा कोट' मे है, जिसका अर्थ ही 'नई आबादी है। मक्खिया इसी क्षेत्र मे अधिक हैं। आप कृपया सारे लाहौर को इसी तरह मक्खियों से भरा न समझ लीजिएगा।"

गुरुदेव के चेहरे पर एक बार पुन. मुस्कराहट चमक आई।

इसी समय शान्ताजी ने पूछा, "गुरुदेव, मानव जीवन का ध्येय क्या है ?"

गुरुदेव ने कहा, "मानव जीवन का ध्येय आत्मतोष है और इस आत्मतोष का उपाय मानवीय सामर्थ्य का विकास है। 'सामर्थ्य' शब्द का प्रयोग मैं बहुत व्यापक अर्थों में कर रहा हूं।"

अब गुरुदेव बहुत अच्छे मूड मे थे। बहन शान्ता के सिर पर हाथ रखकर उन्होने कहा, "सामर्थ्य का विकास साधना से होता है। और साधना तप के बिना नही हो सकती। तुम अपने जीवन का चाहे जो ध्येय बनाओ, उसके लिए तुम्हे गहरी साधना और निरतर परिश्रम करना होगा। मेरा ही उदाहरण लो। मैंने अभी तक अपने जीवन मे जो कुछ भी किया है, वह निरन्तर साधना और कठोर परिश्रम का परिणाम है। लोग प्रायः समझते हैं कि मैं बड़े आराम में अपना जीवन बिताता रहा हूं। पर मैंने जीवन भर भरसक ईमानदारी से पूरा परिश्रम किया है। एक-एक दिन मे अठारह-अठारह घटे काम भी मैंने किया है। अपने जीवन का कोई उद्देश्य बनाकर साधना और तप करोगे, तो वह कभी व्यर्थ नही जाएगा।"

इसी तरह कितनी ही बाते हुई। बातचीत के दौरान गुरुदेव ने मुझसे पूछा, "तुम बता सकते हो कि पंजाब की कितनी लड़कियों ने बगाली युवकों से विवाह किया है?"

मुझे कुछ उदाहरण मालूम थे, जो मैंने उन्हें बताए। साथ ही मैंने कहा, "पर यह सम्बन्ध दोतरफा होना चाहिए गुरुदेव। बंगाली लडकियों को भी पंजाबी युवकों से विवाह करना चाहिए।"

गुरुदेव ने कहा, "अवश्य! बल्कि जहा तक मुझे ज्ञात है प्रान्त का बन्धन तोड़कर सबसे पहला विवाह मेरी एक रिश्तेदार सरला देवी ने पजाब के चौधरी रामभज दत्त से किया था और मुझे उससे बहुत प्रसन्नता हुई थी। मैं तो चाहता हूं कि भारत भर के प्रान्तो मे परस्पर विवाह सम्बन्ध स्थापित हो। हम लोग अभी तक जाति-पांति के झूठे बन्धनो में जकड़े हुए हैं। ये सब बन्धन तोड़कर हमें भारत भर में एक राष्ट्रीयता का विकास करना है। यह प्रान्तीय भावना राष्ट्रीयता के विकास में बाधक बन रही है। हमें इससे बचना चाहिए। पंजाब और बंगाल के विवाहों में मुझे विशेष रुचि दो कारणों से है। एक तो मैं पंजाब को प्यार करता हूं, दूसरा, मैं चाहता हूं कि बंगाली भी पंजाबियों के समान स्वस्थ बनें। यह

रक्त का मिश्रण दोनों प्रान्तों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।"

इसी प्रसंग में उन्होंने एक बड़ी शानदार बात कही जिसका तात्पर्य है—"यदि हम अपने रक्त का सम्मिश्रण नहीं करते, तो किसी एक उद्देश्य के लिए हम अपना रक्त बहा भी नहीं सकेंगे।"

गुरुदेव को प्रणाम कर जब हम लोगों ने विदा ली तो एक बार पुनः मेरा ध्यान मृत्यु के मुख में आबद्ध मक्खियों के उस समूह की ओर गया। बहुत दिनों तक वह दृश्य मुझे जैसे चौंकाता-सा रहा। विश्व में जीवन और मृत्यु का संघर्ष शाश्वत है। गुरुदेव ने अपनी कितनी ही रचनाओं में इस शाश्वत संघर्ष और जीवन तथा मरण पक्षों का बहुत सजीव चित्रण किया है। उनकी प्रेरणा के कितने ही स्रोत रहे होंगे। पर उस दिन मैंने जो स्रोत देखा, उसकी मुझे कल्पना भी नहीं हो सकती थी। विषैली चिपचिपाहट की मिठास से आकृष्ट होकर बीसों मक्खियां एक ही जगह फंस गई हैं। बीसों मर गई हैं और बीसों को अपनी आसन्न मृत्यु का आभास हो गया है वे अधिक से अधिक वेदनापूर्ण और बेचैनी भरे स्वर में चीख-चिल्ला रही हैं, अपने पंख फटक रही हैं और मानव जाति का एक महानतम चिन्तक उन मरणासन्न मक्खियों के इस व्यर्थ-प्रयास को एकटक देख रहा है और उनकी चिल्लाहट में नश्वरता तथा महा शक्तिशाली मृत्यु का गान सुन रहा है।

"मरण रे, तुहु, मम प्राण समान !"

कभी-कभी सोचता हूं, सम्पूर्ण मानव जाति ही फ्लाई-पेपर पर फंसी उन मक्खियों के समान नहीं है।

प्रसादजी के साथ एक घटना

यों अपने मित्रों से मैंने कितनी ही अलौकिक बातें सुनी हैं, पर शायद मैं अविश्वासी व्यक्ति हूं, इससे किसी बात को अलौकिक या अभौतिक मान नही पाता। मेरी धारणा यह है कि सब बातो की भौतिक कैफियत उपलब्ध कर ली जा सकती है। फिर भी अपने जीवन में मुझे एक विचित्र अनुभव अवश्य प्राप्त हुआ है। पर वह अकेला ही है और उसके सम्बन्ध में भी मेरी धारणा यही है कि इस तथ्य की भी कोई भौतिक कैफियत अवश्य तलाश की जा सकती है।

यह अनेक वर्ष पूर्व की घटना है। मैं बनारस गया हुआ था। श्री विनोद-शंकर व्यास से मेरा पत्र-व्यवहार पहले ही था। इस बार उनसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई। व्यासजी ने मेरा परिचय महाकवि श्री जयशंकर प्रसाद से करवाया और उन्होंने मुझसे बहुत स्नेह का व्यवहार किया। दो-एक दिनों मे ही मेरी उक्त दोनो बन्धुओं से काफी घनिष्टता हो गई। तब तक मैंने कभी सारनाथ नहीं देखा था, इससे दूसरी सांझ मैंने प्रस्ताव किया कि सारनाथ चला जाए। प्रसादजी ने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह निश्चय हुआ कि अगली प्रातः भोजन साथ लेकर टांगे से सारनाथ जाया जाए और सारा दिन वहां ही बिताया जाए। टांगे और भोजन की व्यवस्था का जिम्मा व्यासजी ने अपने पर लिया। यह निश्चय हुआ कि टांगा सब से पूर्व व्यासजी के यहां पहुंचेगा, वहां से प्रसादजी को लेकर वह उस होटल में आए, जहां मैं ठहरा हुआ था, क्योंकि वह होटल सारनाथ के राह ही में पड़ता था। बरसात का मौसम था। आकाश में बादल आते-जाते थे, पर उस दिन अधिक वर्षा नही हुई थी। अगले दिन का हम लोगों का कार्यक्रम भी मौसम पर निर्भर रक्खा गया था। यों सम्भावना यही थी कि ऐसी वर्षा नही होगी, जिससे डरा जाए। इस मौसम में प्रसादजी के साथ सारनाथ की यात्रा का कार्यक्रम मुझे अत्यन्त आनन्ददायक जान पड़ा। यों भी वर्षा ऋतु मुझे प्रिय है।

उस रात जब मैं सोया, तो मेरा सम्पूर्ण ध्यान दूसरे दिन के कार्यक्रम की ओर था। आधी रात के बाद मैंने एक सपना देखा। इस स्वप्न मे मैंने पाया कि मैं अकेला ही टांगे मे सारनाथ जा रहा हूं। दोनो ओर खेत हैं। राह लम्बी है और टागेवाला खूब तेजी से तागा दौड़ा रहा है। सपना यहां कुछ अस्पष्ट-सा हो गया। उसके बाद मैंने देखा कि एक बड़े खंडहर के पास मैं अकेला खडा हू। मैं जहा खड़ा हूं, वह खंडहरात का एक टीला-सा है। उसके सामने साथ ही एक गहरी खाई है। सब ओर सन्नाटा है। मैं एकटक इस खाई मे देख रहा हूं अचानक मैंने देखा कि खाई में से एक सांप निकला। यह साप मुझसे विपरीत दिशा मे चला, पर चलते हुए एक पत्थर से इस तरह छूता गया कि उसकी सफेद केंचुली उसी जगह पडी रह गई।

—और अचानक मैं जाग गया। मुझे ख्याल आया कि यह तो सपना है। असल में अब से कुछ घण्टों के बाद में अकेला नही, बल्कि हम तीन व्यक्ति सारनाथ जाएंगे।

प्रात.काल मैंने पाया कि आकाश लगभग स्वच्छ है और ठंडी हवा चल रही है। ठीक 8 बजे एक बढ़िया खाली टांगा होटल में आया। टागेवाला एक चिट्ठी अपने साथ लाया था, जो मेरे नाम पर थी। यह व्यासजी की थी। उन्होने लिखा था कि पिछली रात अचानक प्रसादजी की तबियत खराब हो गई। इससे उनका आना सम्भव नही है, बल्कि उनकी देखभाल के लिए व्यासजी का भी वही रहना आवश्यक है। अतः सारे दिन के लिए टागा भेजा जा रहा है। इस टांगेवाले को सारनाथ से वापस लौटकर मैं 5 रुपये दे दू।

फलतः मुझे अकेले सारनाथ जाना पड़ा। यात्रा निस्सन्देह सुखकर थी। आकाश मे बादल आख-मिचौनी खेल रहे थे और ठडी हवा निरन्तर बह रही थी। टागा अच्छा था और उसका घोड़ा बहुत तेज था। राह के दोनो ओर खेत और कही-कही छोटे-छोटे गांव थे, जो मुझे अपरिचित प्रतीत नही हुए। उत्तरप्रदेश के देहाती भाग से सुपरिचित होने के कारण मुझे उधर के लैण्डस्केप में कोई नयापन नही जान पड़ा। टांगे का घोड़ा बहुत तेज था, पर स्पष्टतः व्यासजी ने बहुत अच्छा टागा ही अपने लिए छाट रखा होगा।

सारनाथ का संग्रहालय पूरी तन्मयता के साथ देख लेने के बाद मैं

बिना किसी गाइड के एक ओर बढ चला। कुछ नई इमारतों के बाद बाईं ओर मुझे जो खण्डहर दिखाई दिए, मैं उनकी ओर बढ़ चला। मैं उस समय एकदम अकेला था। खण्डहरों के नजदीक पहुंचने पर उनका एक भाग मुझे पूरी तरह सुपरिचित जान पड़ा। यह एक टीला-सा था। मैं इस टीले पर चढ़ गया। मुझे ख्याल आया कि दूसरी ओर खाई जरूर होनी चाहिए और टीले पर चढकर मैंने सचमुच पाया कि सामने एक खाई-सी है, जो इस लम्बे टीले के साथ दूर तक चली गई है। खाई की दूसरी ओर के खण्डहर और भी अधिक ऊंचे हैं। यह खाई शायद पुरातत्व विभाग की खोज-सम्बन्धी खुदाई से बनी है।

यहा का सम्पूर्ण दृश्य लगभग वही था, जो पिछली रात मैंने सपने में देखा था। एक विचित्र-सी रहस्यमय अनुभूति मुझे हो रही थी। अपने जीवन मे मैं पहली बार सारनाथ आया था, फिर भी मुझे यह स्थान विशेष पहले से देखा हुआ प्रतीत हो रहा था। मेरे लिए यह अनोखा अनुभव था। उसी समय मुझे ख्याल आया कि इस खाई में सांप भी तो निकलना चाहिए। और महान आश्चर्य ! कुछ ही क्षणों में किसी अज्ञात कोटर से एक काला सांप निकला, जो तत्क्षण मुझसे विपरीत दिशा मे रेंगने लगा। खाई में इस सांप से लगभग 3 गज दूर, 8-10 इंच ऊंचाई का एक पत्थर पडा हुआ था। यह काला साप इस पत्थर से इस तरह सटकर चला कि उसकी सफेद केंचुली वहीं छूट गई। मंदगति से सांप आगे बढकर मेरी आंखों से ओझल हो गया। मैं आश्चर्य चकित-सा वहीं खड़े रहकर उस खाई, उस खण्डहर और उस केंचुली को देखता रहा। यह सब क्या माया है—मुझे यह समझ नही आया। जी मे आया कि खाई मे उतरकर वह केंचुली उठा लूं। पर यह भी भय प्रतीत होता था कि खाई में बहुत-से साप हो सकते हैं। कोई विषधर निकल आया तो मेरे लिए खाई से भाग सकना भी कठिन हो जाएगा। पर काफी दुविधा के बाद मैं बडी सावधानी से खाई में उतरा और वह केंचुली उठा लाया।

काफी समय तक उक्त केंचुली को मैंने सम्भालकर अपने पास रक्खा था। पर बाद मे किसी ने मुझे सलाह दी कि सांप की केंचुली अपने पास रखना किसी दृष्टि से वाछनीय नही है। तब कई वर्षों के बाद मैंने उस केंचुली को विसर्जित कर दिया था।

प्रेमचंद : लेखक और मनुष्य

मुंशी प्रेमचंद के समकालीन एक सज्जन उनके घोर आलोचक बन गए। यह सज्जन संस्कृत के विद्वान थे। किसी बात से नाराज होकर उन्होंने कुछ ऐसा व्यवहार किया जो प्रेमचंद को खल गया। यों भी यह सज्जन मौके-बेमौके प्रेमचंद का मजाक उड़ाया करते थे। नाराज होकर प्रेमचंद ने इन संस्कृतज्ञ शास्त्री पर कुछ कहानियां लिखीं। उक्त सज्जन शरीर से कुछ भारी-भरकम थे। प्रेमचंद ने उनका मजाक उड़ाने के लिए उनका नाम 'मोटेराम शास्त्री' रख दिया। इस मोटेराम शास्त्री के सम्बन्ध में उन्होंने कई कहानियां लिखीं। इन्हीं में से एक का शीर्षक था 'मोटर के छींटे'।

यह कहानी पं० मोटेराम शास्त्री के डील-डौल के वर्णन और उनकी भोजन-प्रियता के चित्रण से प्रारम्भ होती है। शास्त्री जी को एक निमंत्रण मिलता है और वह खूब सजधज कर यजमान के घर की ओर चलते हैं। भारी वर्षा होकर चुकी है और सड़कों पर पानी जमा है। पं० मोटेराम पानी बचाकर निकल रहे होते हैं कि एक मोटर तेजी से उनके निकट से गुजरती है और शास्त्री जी सिर से पैर तक कीचड़ में सराबोर हो जाते हैं। शास्त्री जी क्रोध में आकर भोजन का लालच छोड़कर वहीं बैठ जाते हैं, क्योंकि राह ऐसी है कि देर या सवेर मोटर का इसी सड़क पर लौटना अवश्यंभावी है। काफी देर बाद मोटर वापस आती है, तो शास्त्री जी एक बड़ा-सा पत्थर उसके सामने के शीशे पर मारते हैं, जो चकनाचूर हो जाता है।

इस सदी के तीसरे दशक के अंतिम वर्षों में (1927 से) और चौथे दशक के प्रारम्भ में प्रेमचंद से मेरा परिचय यथेष्ट घनिष्ठ हो गया था। दिल्ली में एक दिन मोटेराम शास्त्री सम्बन्धी कहानियों की ओर उनकी पृष्ठभूमि की भी चर्चा चली। पूर्वोक्त कहानी का हवाला देकर मैंने कहा, "बाबूजी, इस कहानी में आपने पं० मोटेराम शास्त्री का जो चित्रण किया है, वह हास्यरसपूर्ण अवश्य है, पर आगे चलकर आपने शास्त्रीजी का मजाक

नहीं उड़ाया, बल्कि उन्हें एक वीर-पुरुष के रूप में प्रदर्शित किया है। कहानी समाप्त होते न होते पाठक की पूर्ण सहानुभूति पं० मोटेराम शास्त्री को प्राप्त हो जाती है।"

प्रेमचंद बोले, "मैं···शास्त्री से भले ही नाराज रहा होऊं, पर अपनी कहानी के पात्र से तो नाराज नहीं हो सकता था! अपने पात्र पं० मोटेराम शास्त्री से तो मुझे पूरा न्याय करना ही था। भले ही इस पात्र का निर्माण मैंने क्रोध में आकर किया हो, पर वह सब क्रोध उक्त पात्र के शारीरिक चित्रण तक ही सीमित रह पाया। कहानी में इस या किसी भी अपने अन्य पात्र से मैं स्वयं कैसे नाराज रह सकता हूं?"

कुछ क्षणों तक चुप रहने के बाद उन्होंने कहना शुरू किया, "इस कहानी द्वारा मैं यह भी कहना चाहता था कि जब कोई अमीर व्यक्ति अपने अभिमान मे किसी निर्धन व्यक्ति की अवमानना करता है, तो उसे कदापि सहन नहीं करना चाहिए। मोटेराम में यह साहस था कि वह अपनी कमजोरी छोड़कर वीर बन सके।"

शायद नवंबर 1934 की बात है। प्रेमचंद अपने एक उपन्यास के फिल्मीकरण के सिलसिले में काफी दिनों तक बम्बई रहकर हाल ही में बनारस लौटे थे। उनके वापस आने के पांच या छह दिन बाद मैं उनसे मिलने गया, तो वह असाधारण रूप में प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। मैं स्वयं उसी दिन सुबह लाहौर से बनारस पहुंचा था।

किरणों की तरह फूटकर दिखाई देने वाली उनकी इस प्रसन्नता का एक कारण तो यह था कि वह रुपये-पैसे के प्रलोभन को लात मारकर फिल्म लाइन से अपने परिवार के पास बनारस लौट आए हैं; बंबई के वातावरण में उन्हें निरन्तर जो घुटन प्रतीत होती रही थी, उससे वह निजात पा गए हैं। परन्तु उनकी प्रसन्नता का दूसरा कारण जानकर मुझे कुछ अचंभा हुआ।

एक सज्जन बहुत दिनों से उनके प्रेस के मैनेजर का काम कर रहे थे। उनकी अनुपस्थिति में भी उनके संपूर्ण कामकाज की देखभाल वही करते रहे थे। प्रेमचंद को पहले से संदेह था कि यह सज्जन अपने व्यक्तिगत हित-साधन को प्रेमचंद या उनकी संस्था के हित-माध्यम से अधिक महत्व देते

है और इस काम मे वह कोई सीमा भी नहीं मानते। अब बबई से वापस आकर प्रेमचन्द का उक्त संदेह विश्वास में परिणत हो गया। कुछ सबूत ऐसे ही मिले। वापस आते ही उन्होंने पहला काम यह किया कि उक्त सज्जन को उन्होने जवाब दे दिया। अपने जीवन मे इतने साहस का काम उन्होंने पहली बार किया और इससे वह बहुत प्रसन्न थे।

मैंने पूछा, "जवाब किस तरह दिया है ?"

"मैंने उनसे कह दिया है कि मुझे आप पर विश्वास नही है।"

"बस, इतना ही ?"

"और किस तरह जवाब देना होता है ! शरीफ आदमी के लिए क्या इतना ही काफी नही है ? तीन दिन हो गए और वह दफ्तर नही आए। मैंने उनके दफ्तर के कमरे पर ताला लगवा दिया है और उस ताले की चाबी अब मेरे ही पास रहती है।"

इसके बाद भी उन सज्जन के संबंध मे उन्होने मुझे कितनी ही बातें सुनाईं। स्पष्ट था कि उनकी नाराजगी पूरी तरह साधार थी और यह भी स्पष्ट था कि वह उन सज्जन को नौकरी से निकाल देने के काम को एक बहुत साहस का काम समझ रहे थे। वह कृत-निश्चय थे कि चाहे कुछ भी हो जाए, उन्हें कभी काम पर वापस नही लेंगे।

ये बातें हो रही थी कि जीने पर से होकर प्रेस का एक लड़का (डिस्ट्रीब्यूटर) वहां आ उपस्थित हुआ और नमस्कार कर खडा हो गया।

प्रेमचद ने उससे पूछा, "क्या बात है ?"

"दफ्तर के कमरे की चाबी चाहिए।"

"किसलिए ?"

"मैनेजर साहब आए हैं और उन्होंने चाबी मंगवाई है।"

"वह क्यों आए हैं ?"

वह लडका चुपचाप खड़ा रहा। उन्होने फिर से कहा, "मैं पूछता हूं कि वह क्यों आए हैं ?"

लडके ने कहा, "आप कहें, तो मैं उन्हे ऊपर भेज दूं।"

"नही, नही ! जरा ठहरो !"

कुछ क्षणों की अव्यवस्थित क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के बाद प्रेमचंद

उठे और उन्होंने पास ही लटके हुए अपने कोट की जेब से चाबी निकाली और उस लड़के के हाथ मे दे दी। लड़का चुपचाप वापस चला गया।

कुछ समय तक कमरे में पूरी तरह चुप्पी छाई रही। मैंने कनखियों से देखा, तो प्रेमचंद बहुत गम्भीर दिखाई दे रहे थे, जैसे बड़ी गहराई से कुछ सोच रहे हो।

पर यह स्थिति बहुत देर तक नही रही। कुछ देर के बाद एकाएक वह अपनी सहज स्वाभाविक हंसी में खिल उठे (उनके जैसी निर्मल, सहज और ऊंची हंसी मैंने अन्यत्र कहीं नही सुनी)। खुलकर हंस लेने के बाद उन्होंने कहा, "यह भी खूब रही!"

मैंने कहा, "बाबूजी, आप तो उन्हें वापस न लेने के लिए कृत-निश्चय थे।"

प्रेमचद बोले, "भाई, वह भी तो आखिर बाल-बच्चों वाला आदमी है। उसने जो कुछ भी किया, अपने लिए थोड़े ही किया होगा! फिर एक इंसान खुद चलकर आए और कहे कि वह अपने काम पर बरकरार रहना चाहता है, तो क्या उससे यह साबित नहीं होता कि वह अपनी गलतियों को तसलीम करता है और उनके लिए शर्मिंदा है?"

मेरा सिर जैसे स्वतः उस महान व्यक्ति के सम्मुख श्रद्धा से झुक गया।

मास्टर मोशाय का संदेश

मेरे यौवन के सत्रह बरस लाहौर में बीते हैं। उन दिनों वहां एक प्रतिभाशाली कलाकार दम्पत्ति रहा करते थे। पति का नाम था रूप-किशन और उनकी अंग्रेज पत्नी का नाम था मेरी। दोनों अत्यंत श्रेष्ठ कोटि के चित्रकार थे। चित्रकला की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए दोनों महा-युद्ध से पूर्व पेरिस गए थे। वहीं उनमे परस्पर प्रेम हो गया था, जो बाद में विवाह के रूप में प्रतिफलित हुआ था। पति-पत्नी मेरे घनिष्ठ मित्र थे और उनसे सभी तरह की चर्चाएं और वाद-विवाद हुआ करते थे। उन दिनों हमारे देश में कलाकारो को उतना सम्मान भी प्राप्त नही था, जितना आज है। और मैं देख रहा था कि प्रतिभाशाली कलाकार रूपकिशन पर इस तथ्य का अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। वह बड़ी आशाओं के साथ स्वदेश वापस आए थे। जीवन संगिनी के रूप में मेरी जैसी श्रेष्ठ कलाकृत पाकर यह भरोसा हो गया था कि वे दोनों बहुत शीघ्र चमत्कृत हो उठेंगे। पर वैसा नहीं हुआ। पत्रों मे उनकी उथली-सी चर्चा हुई, उल्टी-सीधी प्रशंसा के कुछ लेख निकले और फिर वे दोनों, लोगों की निगाह मे पुराने पड़ गए। चित्रकला के वास्तविक पारखी उन दिनों हमारे देश मे उतने ही थे, जितने आजकल नाटक के हैं।

परिणाम यह हुआ कि रूपकिशन अत्यन्त कटु और फ्रस्ट्रेटिड होते चले गए। इस कटुता और फ्रस्ट्रेशन का एक प्रभाव यह भी हुआ कि वह केवल असुन्दर और भयानक ही नही, अपितु 'वीभत्स' का चित्रण करने लगे। बड़ी शीघ्रता से उनकी कला मे मोरबिडिटी बढने लगी। पहले-पहल मेरी ने इसे रोकने का प्रयास किया, पर क्रमश: वह भी पति से प्रभावित होकर वीभत्स के चित्रण की ओर आकृष्ट होने लगी। दम्पती से मेरे तथा अन्य मित्रो के जो विवाद होते थे, क्रमश: उनमे भी कुछ तिक्तता आने लगी। यद्यपि स्वभाव से वे दोनो अत्यन्त शिष्ट और शान्त वृत्ति के कलाकार थे।

फरवरी, 1944 मे मुझे किसी काम में कलकत्ता जाना पड़ा। कलकत्ता

जाकर मैं शान्तिनिकेतन न जाऊं, यह असम्भव था। विशेषतः आचार्य क्षितिमोहन सेन की मुझ पर विशेष कृपा थी और उनसे मिलने का आकर्षण बहुत जबरदस्त था। शान्तिनिकेतन की एक महत्त्वपूर्ण विभूति मास्टर मोशाय (आचार्य नन्दलाल वसु) है। उनसे मेरी घनिष्ठता तो नहीं थी, पर उनकी मुझ पर कृपा जरूर थी। वह बहुत कम बोलते थे, पर जब मैं उनके पास जाता था, कुछ देर मुझसे बातचीत जरूर करते थे। शान्तिनिकेतन जाकर कला भवन में उन्हें काम करते हुए देखना मेरे लिए सदा प्रेरणादायक हुआ करता था। उस वर्ष मैं उन्हें विशेष रूप से मिलना चाहता था। इस कारण कि रूपकिशन उनके शिष्य रहे हैं। उनके शिष्य के फ्रस्ट्रेशन की चर्चा मैं उनसे करना चाहता था।

दूसरे दिन, प्रात.काल मैं अकेला कला भवन पहुंचा। मास्टर मोशाय अधिक नहीं बोलते। पर उस दिन जब मैं कला भवन पहुंचा तो वह बहुत प्रसन्न मुद्रा में थे। मैं अकेला एक ओर खड़ा हो गया। कुछ ही क्षणों मे वह मेरे पास से गुज़रे तो मैंने उन्हें नमस्कार किया। मेरे नमस्कार का उत्तर देकर उन्होने अंग्रेज़ी में मुझसे पूछा, "लाहौर से चलने से पूर्व रूपकिशन से मिले थे ?"

मैंने कहा, "जी हा।"

"क्या हाल है उनका ?"

"उनका मानसिक फ्रस्ट्रेशन बढ़ रहा है ! वह अब 'असुन्दर' का चित्रण कर रहे हैं। 'वीभत्स' का भी। मेरी भी उनसे प्रभावित हो रही है।"

मैंने विस्तार से रूपकिशन की परिस्थितियां उन्हें बताकर कहा, "मेरे द्वारा दोनों ने आपको प्रणाम भेजा है।"

मास्टर मोशाय ने कुछ प्रश्न भी किए। पूरी परिस्थिति जानकर आचार्य वसु ने मुझसे कहा, "रूपकिशन से कहना कि तुम्हारे मास्टर मोशाय ने तुम्हारे लिए एक सन्देश भेजा है।"

मैंने अत्यन्त उत्सुकता से पूछा, "वह सन्देश क्या है ?"

मास्टर मोशाय ने कहा, "In total universe there is more of light than darkness." (सम्पूर्ण विश्व में सब मिलाकर अन्धकार से प्रकाश अधिक है।)

एक क्षण मुझे मास्टर मोशाय का यह दिव्य सन्देश समझने मे लगा। उसके बाद तो जैसे मैं चमत्कृत हो उठा।

मास्टर मोशाय के चेहरे पर एक शानदार मुस्कराहट थी। उन्होंने पुन: कहा, "जिस दिन ऐसा नही रहेगा, वही वास्तव मे प्रलय का दिन होगा। तब यह सम्पूर्ण सृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी।"

लाहौर पहुचकर मैंने उक्त सन्देश ज्यों का त्यो रूपकिशन दम्पती को दे दिया। मैंने कहा कि मास्टर मोशाय का अभिप्राय यह है कि विश्व में असंख्य सूर्य हैं, जो अपने चारो ओर के असीम शून्याकाश (स्पेस) में निरंतर प्रकाश का विस्तार कर रहे हैं। अधेरा तो पृथ्वी आदि बुझे हुए ग्रहों की ओट मे है या उनके भीतर के कोटरो में (जिनका आकार बहुत छोटा है)। यह ओट भी बहुत सीमित है, क्योकि वह एक कोण बनाकर समाप्त हो जाती है। जब कि प्रकाशित शून्याकाश असीम है। अगर किसी दिन ये सूर्य जलकर भस्म हो गए, और नए सूर्य नही बने तो सचमुच ही यह सृष्टि समाप्त हो जाएगी। पर वह स्थिति असम्भव है। क्योकि नये सूर्यों और ग्रहो का निर्माण भी निरन्तर हो रहा है।

मैंने कहा, "मास्टर मोशाय कहते है कि अन्धकार से प्रकाश बहुत बड़ा है, दुख से सुख बड़ा है, निराशा से आशा बडी है, मृत्यु से जीवन बड़ा है और मिथ्या से सत्य बड़ा है।...नए शब्दों में वही सन्देश, जो उपनिषदों का अमर सन्देश है। असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिगमय। मृत्योर्मा अमृत गमय।"

और कलाकार दम्पती का सिर अपने उस्ताद के प्रति श्रद्धावनत हो गया।

भगतसिंह की शहादत

21 मार्च, 1931 की सुबह लाहौर के एक प्रमुख वकील को दिल्ली से श्री आसफअली का टेलीफोन आया। यह सज्जन भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव आदि क्रांतिकारी कैदियों के लिए निश्चित कानूनी सुरक्षा समिति के अध्यक्ष थे। उक्त सज्जन ने उसी समय रक्षा समिति के सभी सदस्यों और लाहौर के कतिपय राष्ट्रीय नेताओं की एक बैठक बुलाई और बताया कि महात्मा गांधी ने हाल ही में लार्ड इरविन से जो यह अपील की है कि भगत सिंह और उनके साथियों की फांसी की सज़ा रद्द कर दें, उस पर वायसराय सहानुभूति से विचार कर रहे हैं। आसफअली साहब का कहना है कि इस समय यदि भगतसिंह और उनके साथी भी शीघ्र ही एक 'मर्सी अपील' वायसराय के पास भेज दें तो उनकी प्राण रक्षा निस्सन्देह हो जाएगी। यहां तक तो सभी लोग सहमत थे। पर सवाल यह था कि कफन सिर पर बांधकर फासी के तख्ते का इन्तजार कर रहे इन बहादुरों को 'मर्सी अपील' करने की बात कहने तक का साहस किसमे है। वे लोग मानेंगे या नही, यह तो दूर की बात है।

किसी ने सुझाया कि यह काम प्राणनाथ मेहता को सौंपा जाए। प्राणनाथ भगतसिंह के बचपन के साथियों में थे। दोनों की दोस्ती निरन्तर चली आ रही थी। बल्कि भगतसिंह के लिए कानूनी दौड़धूप करने की इच्छा से गवर्नमेण्ट कालेज की एम० ए० की पढ़ाई बीच ही मे छोड कर प्राणनाथ उक्त रक्षा समिति के सबसे अधिक सक्रिय कार्यकर्त्ता बन गए थे। यों वह एल० एल० बी० की परीक्षा पास कर चुके थे। प्रिवी कौन्सिल को भेजी जानी वाली अपील पर भी भगतसिंह और उसके साथियों ने प्राणनाथ मेहता के कहने पर ही हस्ताक्षर किए थे।

कुछ झिझक के साथ प्राणनाथ मेहता ने यह उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया और पंजाब सरकार से आज्ञा लेकर उसी सायं वह भगतसिंह और उनके साथियों से मिलने जेल में गए।

पिछले पन्द्रह घण्टों में प्राणनाथ मेहता निरन्तर यही बात सोचते रहे थे कि किस तरह यह बात प्रस्ताव उन नवयुवकों के सम्मुख रक्खें। पर जब वह उनके सम्मुख पहुँचे तो उनके चेहरे की घबराहट छिपाए नहीं छिप रही थी। अच्छे से अच्छे हुए अमरसिंह ने कोई प्रश्न कर उन्हें सम्भलने का अवसर दे दिया। बातचीत स्वभावतः गांधीजी के प्रयत्नों से आरम्भ हो गयी। क्रांतिकारियों का दर्शन होने के नाते प्राणनाथ को यह अधिकार प्राप्त था कि वह उनसे एकान्त में बात कर सकें। प्राणनाथ ने कहा, "गांधी जी के प्रयत्न सफल भी हो सकते हैं, यदि उन्हें आप लोगों का कुछ भी सहयोग प्राप्त हो जाए।"

राजगुरु ने गम्भीर होकर पूछा, "हम लोगों का सहयोग कैसा?"

प्राणनाथ ने कहा, "इतने सीरियस न बनो राजगुरु। तुम्हारा यह रूप देखकर मुझे डर लगता है।"

वातावरण फिर से हल्का हो गया। प्राणनाथ ने कहा, "देखो, तुम इस बात को तो मानते हो कि हिन्दुस्तान की आजादी बहुत दूर नहीं है?"

अमरसिंह ने कहा, "ज़रूर। यही विश्वास तो हमारे जीवन का आधार बना हुआ है।"

"तो फिर आज़ाद भारत को तुम लोगों की ज़रूरत सबसे अधिक होगी। नए भारत का निर्माण तुम लोगों से अधिक अच्छा और कौन कर सकेगा?"

"किस बात का जवाब ?"

"तुम तीनों का अपने जीवन पर व्यक्तिगत अधिकार है या अपने जीवन को तुम लोग कौम की थाती समझते हो ?"

भगतसिंह ने मुस्कराकर कहा, "यार, वकीलों वाली बातें छोड़। सीधे तौर से बता, तू कहना क्या चाहता है ?"

"यही कि तुम्हारा जीवन कौम की थाती है। और कौम चाहती है कि तुम गांधीजी के हाथ मजबूत करने लिये वायसराय के नाम पर एक मर्सी अपील भेज दो।"

शहीदों के मुंह एकाएक गम्भीर हो गए। राजगुरु ने कहा, "प्राणनाथ, तुमसे हमे यह उम्मीद नही थी। कोई और यह बात कहता तो मैं धक्के देकर उसे कमरे के बाहर निकाल देता।"

सुखदेव प्रायः साथ ही साथ बोला, "हम तुम्हें अपना सच्चा दोस्त समझते थे, प्राणनाथ। यह बात कहने की तुम्हें हिम्मत किस तरह हुई ?"

भगतसिंह ने आंख के इशारे से अपने दोनों साथियों को चुप किया और बड़ी शान्त आवाज में पूछा, "किस तरह की मर्सी अपील तुम चाहते हो ?"

उत्साहित होकर प्राणनाथ ने कहा, "मुझे गलत मत समझो मेरे दोस्तो। हम लोग ऐसी कोई बात नही चाहते, जिससे तुम्हारी शानदार बहादुरी को बट्टा लगे। आज रात हमारी कमेटी की बैठक मे ड्राफ्ट बनाया जाएगा, जो मैं कल सुबह तुम लोगों के पास लाऊंगा।"

राजगुरु और सुखदेव बहुत क्रोधित दिखाई दे रहे थे। यह स्पष्ट था कि भगतसिंह उन्हे बोलने नही दे रहा था। भगतसिंह ने मुस्कराते हुए कहा, "मर्सी अपील तो हम भी बना सकते हैं। मगर यार हमारे मुकदमे ने तुम्हें एक कामयाब वकील जरूर बना दिया है। अपनी वकालत चल निकलने पर दोस्तों का यह एहसान भूलना नही।"

और उस रात रक्षा समिति के बड़े-बड़े वकील भगतसिंह की मर्सी अपील का ड्राफ्ट तैयार करते रहे। ऐसी अपील जो कारगर भी हो जाए और जिससे राष्ट्र के उन महान वीरों के सम्मान पर भी आघात न पहुंचे। आखिर यह ड्राफ्ट तैयार हो गया।

22 मार्च, 1931 को प्रातः प्राणनाथ मेहता यह ड्राफ्ट लेकर पुनः जेल

में पहुंचे। मेहता बड़े उत्साह में थे, पर यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ कि भगतसिंह और उनके साथी और भी अधिक उत्साह में हैं। जाते ही प्राणनाथ ने कहा, "लाहौर के प्रसिद्ध राष्ट्र नेताओं ने मर्सी अपील का यह ड्राफ्ट तैयार किया है। कल रात हम लोग तो…"

भगतसिंह ने बीच ही में रोककर हंसते हुए कहा, "यार, जाने भी दो। हम लोगों ने तो मर्सी अपील भेज भी दी है। अधिक देर करना अच्छा नहीं था।"

प्राणनाथ ने समझा कि भगतसिंह अपने स्वभाव के अनुसार मजाक कर रहा है। उसने कहा, "मजाक छोड़ो मेरे दोस्त। मुझे यकीन है कि यह ड्राफ्ट तुम्हें पसन्द आएगा।"

भगतसिंह अब गम्भीर हो गए थे। उन्होंने कहा, "मजाक नहीं कर रहा प्राण! मर्सी अपील तो कल रात ही हम लोगों ने भेज दी है। वायसराय बहादुर के नाम।"

प्राणनाथ एकाएक उत्तेजित हो गए, "नोनसेन्स। यह क्या फिजूल की बातें कर रहे हो। कल सायं मैंने तुम्हें यह सुझाव दिया, आज सुबह मैं यहां आ गया हूं। इस बीच मर्सी अपील कहां से हो गई।"

प्राणनाथ का स्वर कांपने लगा था।

भगतसिंह फिर से मुस्करा उठे। बोले, "यार, मर्सी अपील लिखना भी कोई बड़ा काम है। आखिर दया की भीख ही तो मांगनी थी!"

"यह मजाक की बात नहीं है भाई भगतसिंह। अब जरा सीरियस भी हो जाओ।"

भगतसिंह सचमुच सीरियस हो गया। उसने कहा, "तुम मेरी बात का विश्वास नहीं करते प्राण। तुम्हें मालूम ही है कि अदालत के सभी बयान मैंने स्वयं तैयार किए थे। मर्सी अपील भी मैंने तैयार कर भेज दी तो क्या गुनाह कर दिया?"

प्राणनाथ के पैरों तले से जैसे जमीन खिसक रही थी। उन्होंने मानो स्वगत कहा, "मर्सी अपील चली भी गई।" और उसी सांस में पूछ लिया, "क्या लिखा है उस अपील में तुमने? है कोई कापी उसकी तुम्हारे पास?"

भगतसिंह ने पास ही पड़ी हुई किताब उठा ली। उसकी जिल्द के साथ वाले सफेद कागज पर पैन्सिल से अंग्रेजी में कुछ लिखा हुआ था। वह पृष्ठ खोलकर प्राणनाथ के हाथ मे देते हुए भगतसिंह ने कहा—"यह है हमारी मर्सी अपील की कापी।"

प्राणनाथ मन ही मन उसे पढने लगे। अपील सचमुच वायसराय के नाम (थ्रू प्रोपर चैनल) लिखी हुई थी। उस ऐतिहासिक अपील की कापी आज भी श्री प्राणनाथ मेहता के पास विद्यमान है। इस मर्सी अपील का आशय इस प्रकार है:

महामहिम,

हम लोग इतिहास के विद्यार्थी हैं और यह जानते हैं कि राष्ट्रो की शक्ति का चक्र सदा बदलता रहता है। भारत आज पराधीन है और आप लोग हमारे आका बने हुए हैं। पर हम यह भी जानते है कि अब बहुत वक्त तक आप हमारे मालिक नही बने रह सकेंगे। भारत में आज आज़ादी की जो तड़प विद्यमान है, उसके हम तीनों प्रतिनिधि हैं और हम यह स्वीकार करते हैं कि हम आपकी सरकार के शत्रु हैं। इस शत्रुता पर हमें गर्व है। हम लोग आपके विरुद्ध युद्ध करते हुए गिरफ्तार हुए हैं। हमे मालूम ही है कि चन्द दिनों में आप हमें फासी पर चढ़ाने वाले हैं। वह फासी जो हमारी इन कोठरियों से कुछ ही गजों के अन्तर पर है। इस पत्र द्वारा हम तीनो आप मे अपील करते हैं कि हम तीनों को आप फांसी पर न चढ़ाकर हमें अंग्रेज सैनिकों द्वारा बन्दूक से शूट करवा दीजिए। आप जानते हैं कि युद्ध में पकड़े गए शत्रुओं को इसी तरह शूट किया जाता है, फासी नही दी जाती।

(हस्ताक्षर) भगतसिंह,
राजगुरु,
सुखदेव,

पत्र समाप्त करते न करते प्राणनाथ मेहता की आखें आसुओं से भर आई थी। मेहता एकाएक आगे बढे। सबसे पहले उन्होंने भगतसिंह के चरणों से अपना मस्तक छुआया, उसके बाद वह राजगुरु और सुखदेव की

में पहुचे । मेहता बडे उत्साह में थे, पर यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुअ भगतसिह और उनके साथी और भी अधिक उत्साह मे हैं । जाते ही प्र नाथ ने कहा, "लाहौर के प्रसिद्ध राष्ट्र नेताओ ने मर्सी अपील का ड्राफ्ट तैयार किया है । कल रात हम लोग तो···"

भगतसिह ने बीच ही मे रोककर हसते हुए कहा, "यार, जाने भी हम लोगो ने तो मर्सी अपील भेज भी दी है । अधिक देर करना अच्छा था ।"

प्राणनाथ ने समझा कि भगतसिह अपने स्वभाव के अनुसार म कर रहा है । उसने कहा, "मजाक छोडो मेरे दोस्त । मुझे यकीन यह ड्राफ्ट तुम्हे पसन्द आएगा ।"

भगतसिह अब गम्भीर हो गए थे । उन्होने कहा, "मजाक नहीं रहा प्राण ! मर्सी अपील तो कल रात ही हम लोगो ने भेज दी है । वो राय बहादुर के नाम ।"

प्राणनाथ एकाएक उत्तेजित हो गए, "नोनसेन्स । यह क्या फिजू बातें कर रहे हो । कल सायं मैंने तुम्हें यह सुझाव दिया, आज सु यहा आ गया हूं । इस बीच मर्सी अपील कहा से हो गई ।"

प्राणनाथ का स्वर कापने लगा था ।

भगतसिह फिर से मुस्करा उठे । बोले, "यार, मर्सी अपील भी कोई बड़ा काम है । आखिर दया की भीख ही तो मांगनी थी !"

"यह मजाक की बात नही है भाई भगतसिह । अब जरा सीरि हो जाओ ।"

भगतसिह सचमुच सीरियस हो गया । उसने कहा, "तुम मे का विश्वास नही करते प्राण । तुम्हे मालूम ही है कि अदालत मे बयान मैंने स्वय तैयार किए थे । मर्सी अपील भी मैंने तैयार कर सो क्या गुनाह कर दिया ?"

प्राणनाथ के पैरो तले से जैसे जमीन खिसक रही थी । उन्हों स्वगत कहा, "मर्सी अपील चली भी गई ।" और उसी सांस लिया, "क्या लिखा है उस अपील मे तुमने ? है कोई कापी उसकी पास ?"

थी, उसके 324 पृष्ठ मैं इस समय तक पढ चुका हूं। बहुत अच्छी पुस्तक है। करीब सौ सफे बाकी हैं। उम्मीद है, कल सुबह फांसी पर झूलने से पहले इन एक सौ सफों को भी मैं पढ जाऊंगा।"

इतना कहकर भगतसिंह जोर से हंस दिए। पर प्राणनाथ मेहता उनकी हंसी मे शामिल नहीं हो सके। भगतसिंह का इधर जैसे ध्यान ही नहीं था। लेनिन वाली वह पुस्तक प्राणनाथ की ओर बढाकर वह अपनी सनक मे कहते चले गए —"अभी तेरह घण्टे मेरे पास बाकी हैं। आधा घण्टा तुमसे गपशप चलेगी। उसके बाद ठाठ से जिन्दगी का आखिरी खाना खाया जाएगा। तब मैं यह पुस्तक पढने बैठूगा और इसे समाप्त करके ही सोऊंगा एक पूरी रात अपनी है। और अभी तो वह रात शुरू भी नहीं हुई!"

राजगुरु ने कहा, "पुस्तक समाप्त न भी हो तो क्या गम है?"

भगतसिंह ने कहा, "नही यार, यह ज्ञान अगले जनम में काम आएगा।"

प्राणनाथ मेहता अब तक संभल गए थे। उन्होने पुस्तक खोल कर देखी तो 324 पृष्ठ के साथ 'चिन्हक' के रूप में कागज रखा हुआ था। पुस्तक के इन 324 पृष्ठो तक भगतसिंह के हाथ से लगाए पेंसिल के कितने ही निशान भी थे। यह पुस्तक भगतसिंह के हाथ में वापस देते हुए प्राणनाथ ने बताया कि सारा देश तुम्ही तीनो बहादुरो की चर्चा कर रहा है। इसके बाद तीनों वीरो ने अपने मित्रों के लिए मेहता को सन्देश नोट करवाए।

नोट लेते-लेते एकाएक मेहता ने कहा, "भाई भगतसिंह, तुम्हारे जैसा बहादुर, सच्चा और ईमानदार आदमी भारत भर के नौजवानों में नहीं मिलेगा और तुम चले जाने को इतने उतावले हो! देश का यह कितना बड़ा नुकसान है।"

भगतसिंह अब गम्भीर हो गए। उन्होंने कहा, "बहादुरी की बात मैं नहीं जानता। मैं तो इतना ही जानता हूं कि देश में आजादी की लहर को पुनरुज्जीवित करने के लिए हम तीनों सिपाहियों की कुर्बानी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। असेम्बली में बम फेंककर अगर मैं चाहता तो क्या बचकर निकल नहीं सकता था? जेल से या अदालत से निकल भागने की कोशिश भी हम लोग कर सकते थे। मगर जिन्दगी बचाना हमारा मकसद ही कहा है प्राणनाथ? हम तो जिन्दगी देने के लिए ही यहां आए हैं। भारत माता

ओर बढ़े ही थे कि दोनों दोस्त पीछे हट गए। प्राणनाथ ने शीघ्रता से उक्त स्थान की धूल हाथ से समेट कर अपने माथे पर लगा ली। भगतसिंह ने कहा, "इस तरह नही दोस्त। आओ गले मिलें।"

और चारों व्यक्ति एक साथ एक-दूसरे से लिपट कर मिले।

काफी देर तक चुप्पी छाई रही। मेहता को पूरी तरह समझ आ गया था कि उक्त 'मर्सी अपील' के बाद इन तीनो वीरों की शरीर रक्षा कर सकने का कोई अवसर शेष नही रह गया था।

सरदार भगतसिंह और उनके साथियों की 'मर्सी अपील' से उसी दिन पंजाब सरकार के उच्च अंग्रेज अफसरो मे एक भयंकर सनसनी-सी फैल गई और उन्होंने गवर्नर को यह धमकी दी कि यदि वायसराय लार्ड इरविन गांधीजी के कहने से फासी की सजा रद्द कर देंगे तो हम सब लोग त्यागपत्र दे देंगे। परिणामतः फासी की सजा बहाल रही। कानूनी कार्रवाहिया समाप्त हो चुकी थी। अधिकारियों ने निश्चय किया कि फासी शीघ्र ही दे दी जाए। चुनाचें भगतसिंह और उनके साथियों को सूचना दे दी गई कि 24 मार्च, 1931 को प्रातः उन्हें फांसी देने के लिए निश्चित हुई है।

मित्र लोग सरदार भगतसिंह से मिलना चाहते थे। पर सरकार सतर्क थी। मित्रों के लिए अब मिलने का कोई बहाना भी बाकी नहीं बचा था। पर एक भारतीय जेल-अफसर ने प्राणनाथ मेहता को बताया कि अब वह भगतसिंह और उनके साथियों से मिल सकते हैं, यदि वकील के नाते उन लोगों की वसीयत लिखने का कारण बताकर वह पंजाब सरकार को अभियुक्तों से मिलने की दरखास्त दें। कानूनन यह दरखास्त सरकार नामंजूर नही कर सकती। तदनुसार प्राणनाथ मेहता ने अर्जी दे दी और 23 मार्च, 1931 की सायंकाल के पाच बजे उन्हें केवल तीस मिनट के लिए उन तीनों वीरों से मिलने की अनुमति प्राप्त हो गई।

मेहता जेल मे पहुचे तो वह बहुत गम्भीर बने हुए थे। मृत्यु की छाया उनके तीनों मित्रो पर बहुत निकट मंडरा रही थी। सरकारी सूचना के अनुसार फांसी मिलने में अब केवल तेरह घण्टे ही बाकी थे। ऐसे मौके पर भी सरदार भगतसिंह हंसी मजाक के मूड में थे। मेहता को देखते ही उन्होंने कहा, "प्राण, परसों सुबह तुमसे मैंने लेनिन की जो पुस्तक मंगवाई

थी, उसके 324 पृष्ठ मैं इस समय तक पढ़ चुका हूं। बहुत अच्छी पुस्तक है। करीब सौ सफे बाकी हैं। उम्मीद है, कल सुबह फांसी पर झूलने से पहले इन एक सौ सफों को भी मैं पढ़ जाऊंगा।"

इतना कहकर भगतसिंह ज़ोर से हंस दिए। पर प्राणनाथ मेहता उनकी हंसी में शामिल नहीं हो सके। भगतसिंह का इधर जैसे ध्यान ही नहीं था। लेनिन वाली वह पुस्तक प्राणनाथ की ओर बढ़ाकर वह अपनी सनक में कहते चले गए—"अभी तेरह घण्टे मेरे पास बाकी हैं। आधा घण्टा तुमसे गपशप चलेगी। उसके बाद ठाठ से ज़िन्दगी का आखिरी खाना खाया जाएगा। तब मैं यह पुस्तक पढ़ने बैठूंगा और इसे समाप्त करके ही सोऊंगा एक पूरी रात अपनी है। और अभी तो वह रात शुरू भी नहीं हुई!"

राजगुरु ने कहा, "पुस्तक समाप्त न भी हो तो क्या गम है?"

भगतसिंह ने कहा, "नहीं यार, यह ज्ञान अगले जनम में काम आएगा।"

प्राणनाथ मेहता अब तक संभल गए थे। उन्होंने पुस्तक खोल कर देखी तो 324 पृष्ठ के साथ 'चिन्हक' के रूप में कागज़ रखा हुआ था। पुस्तक के इन 324 पृष्ठों तक भगतसिंह के हाथ से लगाए पेन्सिल के कितने ही निशान भी थे। यह पुस्तक भगतसिंह के हाथ में वापस देते हुए प्राणनाथ ने बताया कि सारा देश तुम्हीं तीनों बहादुरों की चर्चा कर रहा है। इसके बाद तीनों वीरों ने अपने मित्रों के लिए मेहता को सन्देश नोट करवाए।

नोट लेते-लेते एकाएक मेहता ने कहा, "भाई भगतसिंह, तुम्हारे जैसा बहादुर, सच्चा और ईमानदार आदमी भारत भर के नौजवानों में नहीं मिलेगा और तुम चले जाने को इतने उतावले हो! देश का यह कितना बड़ा नुकसान है।"

भगतसिंह अब गम्भीर हो गए। उन्होंने कहा, "बहादुरी की बात मैं नहीं जानता। मैं तो इतना ही जानता हूं कि देश में आज़ादी की लहर को पुनरुज्जीवित करने के लिए हम तीनों सिपाहियों की कुर्बानी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। असेम्बली में बम फेंककर अगर मैं चाहता तो क्या बचकर निकल नहीं सकता था? जेल से या अदालत से निकल भागने की कोशिश भी हम लोग कर सकते थे। मगर ज़िन्दगी बचाना हमारा मकसद ही कहां है प्राणनाथ? हम तो ज़िन्दगी देने के लिए ही यहां आए हैं। भारत माता

के चरणों में दी गई यह कुरबानी एक दिन जरूर रंग लाएगी। इस बात का हमे विश्वास है।"

समय भागा जा रहा था। इतनी ही बातो मे साढ़े पांच बज गए। जेल के अधिकारी आज बहुत सतर्क दिखाई रहे थे। ठीक साढ़े पाच बजे अपने दोस्तों से आखिरी बार गले मिलकर प्राणनाथ मेहता जब भारी हृदय से जेल के दफ्तर तक आए, तो उन्होंने पाया कि सिटी मजिस्ट्रेट भी वहां मौजूद हैं। उनका माथा ठनका। उन्होंने पूछताछ भी की कि ये सब इस वक्त यहा क्यो आए हैं—पर किसी ने उनकी किसी बात का कोई उत्तर नही दिया। सब ओर एक मनहूस सन्नाटा-सा छाया हुआ था। प्राणनाथ की बात का उत्तर न देकर जेलर ने गम्भीरता से इतना ही कहा, "इस वक्त आप जेल मे नही रह सकते।" शीघ्रता से प्राणनाथ को फाटक के बाहर कर दिया गया। जेल के फाटक के बाहर भी काफी पुलिस विद्यमान थी। प्राणनाथ यही समझे कि सुबह की तैयारी अभी से शुरू हो गई है और वह अपनी गाड़ी मे बैठकर वापस चले आए।

किसी भी काम में मेहता का जी नही लगा। ध्यान लगातार अपने जेल वाले मित्रो की ओर था। एक अननुभूत बेचैनी उन्हें परेशान किए हुए थी। जेल का मनहूस वातावरण उनके ध्यान में जैसे बस-सा गया था। वह चुपचाप बैठे रहे और वक्त धीरे-धीरे सरकता गया।

मध्य रात्रि के एक बजे एकाएक सारा लाहौर जाग उठा। गली-गली मे बच्चे और नौजवान यह चिल्लाते हुए घूम रहे थे—"उठो, उठो! सोने वालो उठो। भगतसिंह और उसके साथियों को फांसी हो गई! भगतसिंह जिन्दाबाद! राजगुरु जिन्दाबाद! सुखदेव जिन्दाबाद!"—जैसे एकाएक एक पहाड की चोटी टूटकर नीचे आ गिरी हो।

मेहता ने भी यह सुना, वह उछल कर उठ खडे हुए। मैं भी उस दिन लाहौर में था। मैंने भी यह सब सुना था और मैं भी अपने मेजबान के साथ उछल कर उठ खड़ा हुआ था। मेहता को अब समझ में आया कि सिटी मजिस्ट्रेट शाम के समय जेल क्यों गया था, जेल के अधिकारी इतने गम्भीर क्यों थे, जेल के बाहर इतनी पुलिस क्यो मौजूद थी और जेल का वातावरण एकाएक इतना मनहूस क्यों बन गया था।

कचहरी के बाहर अभी-अभी उर्दू मे एक छोटा-सा नोटिस लगाया गया था कि शाम के छह बजे भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फासी दे दी गई है और उनके अपने-अपने मज़हब के अनुसार उनका दाह संस्कार भी उसी समय कर दिया गया है।

बात यह हुई थी कि पजाब सरकार को यह ज्ञात हुआ था कि 24 मार्च की प्रातः एक लाख के करीब व्यक्ति जेल के बाहर जमा होंगे। इससे उन्होने 23 मार्च की सांझ को ही तीनों वीरों को फासी देने का निश्चय कर लिया। जब उन्हें एकाएक फासी के कटघरे की ओर ले जाया गया तो उनके उत्साह का अन्त नही था। उनके नारे जेल के बाहर तक सुनाई देते रहे थे। फांसी बहुत शीघ्रता में दी गई और उसके बाद तीनों शहीदो के शव फीरोजपुर के पास सतलुज के किनारे जल्दी-जल्दी में जलाए जा रहे थे कि खबर हो गई और लाहौर से बहुत से लोग वहां पहुच गए। तीनों शहीदों के अधजले अंग प्रत्यंग एकत्र कर, तीन लम्बे बक्सों में तीन अर्थियां तैयार की गईं और 24 मार्च की दोपहर को लाहौर मे उनका ऐतिहासिक जुलूस निकाला। लेखक भी जुलूस में सम्मिलित था। सांझ को रावी के किनारे लाखों व्यक्तियों की मौजूदगी में एक चिता फिर से जलाई गई, जिसमें तीनों वीरों के शरीर खण्ड एक साथ रख दिए गए। भारत के इतिहास का वह एक अमर दिन था।

24 मार्च की सुबह प्राणनाथ मेहता अपने शहीद दोस्तो के रिश्तेदारों के साथ पुनः जेल मे गए थे। वहां उन्हें लेनिन की वह पुस्तक भी प्राप्त हुई। उन्होंने देखा कि 324 पृष्ठ के सम्मुख रखा कागज का चिन्हक अब भी ठीक उसी जगह पड़ा हुआ है। उसे किसीने छुआ तक भी नहीं है। मेहता के जाने के पांच ही मिनटों के बाद उन तीनों वीरों को फांसी घर ले जाया गया था। सरदार भगतसिंह वह महत्वपूर्ण पुस्तक समाप्त नही कर पाए थे।

श्री प्राणनाथ मेहता सुप्रीम कोर्ट में एक सफल वकील थे। ऊपर की घटनाएं मुझे सुनाते हुए वाणी और नयन बार-बार वाष्पावरुद्ध हो उठे थे। वह एक समय टाइम्स आफ इण्डिया (बम्बई) के जनरल मैनेजर भी रहे थे।

मेरे जीवन के मोड़

संस्कृत व्याकरण के प्रति मेरी गहरी अरुचि किस प्रकार हुई, यह लम्बी कहानी है। विस्तार में न जाकर मैं यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूं कि तीसरी श्रेणी में व्याकरण के मेरे प्रथम अध्यापक ने जब पहले दिन कुछ भी समझाए बिना मुझे अष्टाध्यायी के अत्यंत कठिन सूत्र केवल याद कर लेने को कहा तो मैंने विद्रोह कर दिया। पाठ याद करना तो एक ओर रहा, मैंने पुस्तक ही नहीं खोली। परिणाम यह हुआ कि व्याकरण के अन्तर (पीरियड) में मुझे तरह-तरह की सज़ाएं मिलने लगी, पर मैंने कभी अष्टाध्यायी या लघु सिद्धान्त कौमुदी को खोलकर भी नहीं देखा।

सौभाग्य की बात यह थी कि संस्कृत साहित्य के प्रति मेरी गहरी रुचि थी। आगे चलकर हिन्दी साहित्य के साथ-साथ संस्कृत साहित्य में भी मैं पूरी दिलचस्पी लेता रहा और परीक्षाओं मे सन्तोषजनक अंक प्राप्त करता रहा। विद्यालय की कक्षाओं की परीक्षाओं मे संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत व्याकरण के योग में पास होना आवश्यक था। व्याकरण में शून्य अंक लेकर भी साहित्य में मैं इतने अंक मज़े में प्राप्त कर लेता था कि दोनों के योग में पास हो जाऊं। इस तरह स्कूल के जीवन में मजे मे मेरा काम निकलता गया।

पर अधिकारी (मैट्रिक) परीक्षा मे सस्कृत व्याकरण में भी कम से कम पच्चीस प्रतिशत (अर्थात् 200 में से 50) अंक लेना आवश्यक था। मेरा तो यह हाल था कि पच्चीस प्रतिशत तो क्या, एक प्रतिशत अंक ले सकने की भी सम्भावना नही थी। पर उसका कोई इलाज भी समझ नही आता था और दिन निकलते जाते थे।

आखिर व्याकरण की परीक्षा का दिन आ गया। अगर मैं गल्ती नही करता तो एक ही दिन मे दो पर्चे हमें देने थे। दोनों पर्चों मे जहां तक मुझे याद है, अपने रोल नम्बर के अतिरिक्त मैंने कुछ भी नही लिखा। सो

परिणाम तो स्पष्ट ही था। मुझे संस्कृत व्याकरण में सदा के समान शून्य ही प्राप्त हुआ।

उन दिनों अधिकारी परीक्षा का परिणाम कालेज-काउन्सिल के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत होता था। अन्य सभी विषयों में मेरे अंक खासे अच्छे थे। संस्कृत साहित्य में विशेषतः अच्छे थे। काउन्सिल के सदस्यों को संस्कृत व्याकरण सम्बन्धी मेरा पुराना रिकार्ड मालूम नहीं था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि काउन्सिल के सदस्यों ने यह समझा था कि मेरे व्याकरण अंक टाइप होने में कुछ गलती हो गई है। कुछ ने यह भी समझा कि शायद किसी वजह से मैं उस दिन परीक्षा में बैठ ही नहीं पाया। नियमानुसार मैं कम्पार्टमेण्ट में उत्तीर्ण घोषित किया गया। यानी तीन महीनों के बाद मुझे पुनः व्याकरण की परीक्षा देकर उसमें पास होना था।

महाविद्यालय में प्रविष्ट होकर कुछ दिन तो हम लोगों ने नये जीवन के मज़े लूटे। गरमियों के दिन थे। गंगा की उन्मुक्त नील धारा में तैरना, साँझ को खैर-पलाश के वनों के पीछे अस्त होते हुए सूर्य किरणों से रंगीन हो रहे आकाश का प्रतिबिम्ब गंगा नदी में झांकना और पहाड़ों की सैर करना—इन सबके प्रति मेरा अगाध आकर्षण था। सो एक महीना तो मैंने व्याकरण के बिना बिता दिया।

फिर भी व्याकरण इतना जबरदस्त बोझीला सिद्ध हुआ कि आखिर मुझे उसकी चिन्ता सताने लगी। पर सिर्फ चिन्ता करने से क्या होता है? आठ-दस साल की पढ़ाई मैं दो महीनों में किस तरह पूरी करता? खासतौर से उस दशा में, जब गुरुकुल के अधिकारियों ने मेरी व्याकरण शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया। मेरी श्रेणी के विद्यार्थी जानते थे कि संस्कृत व्याकरण में मैं एकदम कोरा हूं, सो मेरी सहायता करने तक का साहस किसी को न होता था। इन परिस्थितियों में मुझे कुछ भी न सूझा कि मैं क्या करूं!

आखिर हमारी ही श्रेणी के नए साथियों में से एक साथी सत्यदेव (जो आजकल एक कालेज में प्रिन्सिपल हैं) ने एक तरीका मुझे बताया। बत्तीस पृष्ठों की एक सुलिखित कापी उसने मुझे दी कि मैं यह कापी शुरू से अन्त तक कण्ठस्थ कर लूं। इस कापी में महाभाष्य के सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर संस्कृत में लिखे हुए थे। कोई भी चीज कण्ठस्थ करने से मुझे

सबसे अधिक चिढ़ है। पर लाचार होकर मैंने वह पूरी कापी याद करनी शुरू की। यह कितनी ट्रेजेडी थी कि याद करने की जिस चिढ़ से इतने वर्षों तक मैंने व्याकरण की नितान्त उपेक्षा की थी, अन्त में बाधित होकर मुझे वही कार्य करना पड़ा। बड़ी मेहनत के बाद जब वह पूरी कापी मुझे कण्ठस्थ हो गई, तो मैंने उसे थोड़ा बहुत समझने का भी प्रयत्न किया।

व्याकरण की इस पूरक परीक्षा में केवल मुझे ही सम्मिलित होना था। इस परीक्षा के परीक्षक थे स्वर्गीय प० कन्हैयालाल, जो व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे। व्याकरण सम्बन्धी मेरा 'शानदार' रिकार्ड उन्हें मालूम हो चुका था। इससे उन्होने मेरे लिए एक बहुत आसान पर्चा बनाया।

आखिर व्याकरण की पूरक परीक्षा का दिन भी आ पहुचा। धड़कते दिल से मैंने प्रश्न पत्र देखा। यह पहला पर्चा ही महाभाष्य का पर्चा था, जिस में मेरी किस्मत का फैसला होना था। जल्दी-जल्दी मैं सारा प्रश्नपत्र पढ गया। ज्यों-ज्यो मैं प्रश्न पत्र पढता गया, मेरा दिल बैठता गया। बात यह हुई कि मेरे सदा शून्य लेने की शोहरत सुनकर कन्हैयालाल जी ने इतना आसान प्रश्न पत्र बनाया था कि उनमें से एक भी प्रश्न मेरी कण्ठस्थ की हुई कापी मे से नही था। उस कापी मे तो आखिर कठिन और महत्वपूर्ण प्रश्नों के ही उत्तर संगृहीत थे।

अब आप ही बताइए कि इस परिस्थिति मे आप क्या करेंगे? प्रश्न पत्र पर सिर पटक देंगे, या परीक्षक के लिए एक बड़ा गालीनामा उत्तरपत्र पर लिख देंगे, या डर से बेहोश हो जाएगे? आखिर आप क्या करेंगे?··· पर मैंने इन सब में से कुछ भी नही किया। पांच मिनट मैंने परिस्थिति पर गम्भीरता से विचार किया। मैंने पाया कि जो प्रश्न पत्र आया है, उसके एक भी प्रश्न का उत्तर मुझे ज्ञात नही है। सो पांच मिनट के विचार के बाद मैंने स्वयं अपना प्रश्नपत्र बनाया। स्पष्ट है कि उसमे वही प्रश्न थे, जिन के उत्तर मैं याद कर चुका था। परीक्षक के प्रश्न को मैंने ऊपर उद्धृत किया, फिर लिखा कि इस प्रश्न का उत्तर न देकर मैं स्वयं प्रश्न करता हूं और उसका उत्तर देता हू। इसी ढग से मैंने पांचों प्रश्नों का उत्तर लिख दिया। शाम के पर्चे मे मैं परीक्षा भवन में नही गया।

यह सब तो हो गया। पर सच बात यह है कि उस दिन मेरा मन बहुत

उदास हो गया था। जहां तक मुझे याद है, मेरी पूरक परीक्षा जून मास के अन्त में हुई थी। जब सांझ हुई तो मेरी उदासी और भी अधिक बढ़ गई। आश्रम में सायंकाल सन्ध्या-हवन हुआ, जिसमें सभी विद्यार्थी अनिवार्यतः सम्मिलित होते हैं। उसके बाद महाविद्यालय के सभी विद्यार्थी भोजन भण्डार की ओर चले, जो आश्रम से लगभग पांच सौ गज दूर था। मेरा मन इस वक्त तक इतना उदास हो गया था कि मेरी भूख भी मारी गई थी। आश्रम से बाहर निकल कर मैं चुपचाप गंगा के किनारे चला गया। गंगा मेरे कमरे से दस गज से अधिक दूर नहीं थी।

सूर्यास्त हो चुका था, पर अभी तक अन्धकार व्याप्त नहीं हुआ था। गंगा के ऊंचे और पत्थरों से भरे कगार से मैं नीचे उतरा, और किनारे के एक बड़े गोलाकार पत्थर पर टांगें फैलाकर बैठ गया। मेरा मस्तिष्क स्वतः-मेव ही भविष्य-चिन्तन करने लगा। [illegible] का तो सवाल ही नहीं था, क्योंकि मैंने परीक्षक के एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था। इसका मतलब यह है कि मैं [illegible] घोषित किया जाऊंगा। [illegible] एकदम अकल्पनीय थी। मैं सोचता, कि [illegible] करूंगा और बी० ए० कर लेने के [illegible] सोचने में न तो मुझे [illegible]

पहचाना। पुकारने वाला व्यक्ति गुरुकुल महाविद्यालय के अन्तिम वर्ष का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण छात्र था। नाम था देवदत्त। उससे मेरा इससे पूर्व कोई परिचय नहीं था। देवदत्त ने मुझसे पूछा, "प्रथम वर्ष के छात्र हो न? क्या नाम है तुम्हारा?"

मैंने अपना नाम बता दिया। देवदत्त ने कहा, "भोजन करने क्यों नहीं गए?"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। देवदत्त ने कहा, "इतने उदास क्यों हो? क्या बात है?"

मैंने तब भी कोई जवाब नहीं दिया। इस पर देवदत्त ने पीठ पर हाथ रखकर मुझे आश्वासन दिया और मेरा हाथ पकड़कर वह मुझे भोजन भण्डार की ओर ले गया।

भोजनागार पहुंचकर देवदत्त को मेरी श्रेणी के विद्यार्थियों से मेरी उदासी का कारण ज्ञात हो गया। इसपर उसने मुझसे कहा, "पगले, यह भी कोई चिन्ता करने की बात है! जिन्दगी में पास-फेल होना तो लगा ही रहता है। कोई सदा फेल नहीं होता, जिस तरह कोई सदा पास नहीं होता। इतनी-सी बात पर भोजन करना छोड़ देगा, तब तो हो चुका!"

इसके बाद देवदत्त ने मुझे अपने पास बैठाकर भोजन करवाया।

अगले दिन प्रातःकाल सूर्योदय के साथ ही साथ देवदत्त गंगा के किनारे के जंगल में गया। वहां उसने एक बहुत अच्छा जिमीकन्द खोज निकाला। करीब दस सेर वजन के इस जिमीकन्द को उसने गंगा के जल से खूब धोकर चमका लिया। इसके बाद यह उपहार लेकर देवदत्त व्याकरणोपाध्याय पं० कन्हैयालाल जी के घर पहुंचा। आंगन में पण्डित जी उस समय किसी ग्रन्थ का अध्ययन कर रहे थे। बड़े भक्तिभाव से उसने पण्डित जी को नमस्कार किया। पण्डित जी ने उसे आशीर्वाद दिया। देवदत्त के हाथों में वह बड़ा और अत्यन्त श्रेष्ठ जिमीकन्द देखकर पण्डित जी के चेहरे पर मुस्कराहट छा गई और उन्होंने कहा...."आज तुम्हें मुझसे क्या काम आ पड़ा देवदत्त?"

देवदत्त ने कहा, "जल्दी क्या है पण्डित जी? आराम से बैठकर बातें होंगी।"

पण्डित जी ने कहा, "तो तुम भी एक कुर्सी निकाल कर यहीं आगन में आ बैठो न।"

देवदत्त भीतर चला गया और पण्डित जी अपने स्वाध्याय में लग गए।

भीतर जाकर देवदत्त जल्दी वापस नहीं आया। चार-पांच मिनट उसने पण्डित जी की बैठक मे भीतर ही लगा दिए। और वह जब आया भी, तो बिना कुर्सी के। पण्डित जी हैरान होकर उससे पूछने ही वाले थे कि बात क्या है, कि उसके हाथ में उत्तरपत्र की एक कापी और लाल पेंसिल देखकर उन्हें कुछ भी पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उन्होंने सरलता से मुस्कराकर कहा "तो यह बात थी !"

देवदत्त ने कहा, "पण्डित जी, यह आपके स्वाध्याय का समय है। स्वाध्याय में विघ्न डालना भले मानसों का काम नहीं है। सो आप शीघ्रता से इस कापी पर 100 मे से 51 अंक लगाकर अपने हस्ताक्षर कर दीजिए।"

पण्डित जी ने कहा—"भलेमानस, मुझे देखने भी तो दो कि इस लड़के ने कोई मेहनत की भी है या नहीं। मैंने तो यों भी इसके लिए बड़ा आसान पर्चा बनाया था। मुझे मालूम था कि यह 'जीरो' वाला विद्यार्थी है।"

देवदत्त ने कहा, "यह सब तकलीफ करना बेकार है पण्डित जी। मैं सब जाच-पड़ताल कर चुका हूं। इस लड़के को सारी जिन्दगी संस्कृत व्याकरण से कोई वास्ता नहीं पड़ेगा। इसकी रुचि राजनीति, अर्थशास्त्र और इतिहास में है। यों संस्कृत साहित्य में भी इसने अच्छे खासे अंक लिए हैं और आप क्या देखना चाहते हैं ?"

पण्डित जी पुनः मुस्कराए और "तुम से कोई पार नहीं पा सकता देवदत्त" कहकर 100 में से 51 अंक देकर उन्होंने अपने हस्ताक्षर कर दिए। पण्डित जी के हाथ से उत्तरपत्र लेकर देवदत्त ने उसमें जगह-जगह लाल चिह्न बना दिए, साथ ही विभिन्न प्रश्नों पर कम अधिक इतने अंक भी चिह्नित करवा लिए, जिनका योग 51 था, ताकि सब काम विधिवत् हो।

और इस तरह गुरुकुल से मेरा सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होने पाया। पर देवदत्त ने कभी मुझे इस बात का भी अवसर नहीं लेने दिया कि मैं

उसके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर सकूं। शायद उसी शाम तक वह मेरा नाम भी भूल गया था। अब सोचकर देखता हूं तो पाता हूं कि देवदत्त के समान निष्काम भाव से दूसरों का भला करने वाले व्यक्ति मैंने अपने जीवन मे बहुत कम देखे हैं। और यह सोचकर मेरा मस्तक श्री देवदत्त की दिवंगत आत्मा के प्रति अपने आप ही विनयावनत हो जाता है।

राजनीतिक जीवन ने मुझे कभी अपनी ओर आकृष्ट नही किया। पर उस जीवन के प्रति मेरा विराग जन्मगत नहीं है। मेरी पीढ़ी की जिन्दगी में एक ऐसा युग भी आया था, जिसमें सैकड़ों-हज़ारों बल्कि लाखों अनुभूतिशील भारतीय देश की स्वतन्त्रता के संग्राम मे जूझ पड़े थे, चाहे राजनीति की ओर उनकी रुचि हो या न हो।

सन् 1928 की कलकत्ता कांग्रेस में और उसके बाद 1929 की लाहौर कांग्रेस में मैं प्रतिनिधि रूप से सम्मिलित हुआ था। दोनो बार मुख्यतः कांग्रेस आंदोलन को भीतर से समझने और साथ ही साथ इतने बडे मेलो की उत्तेजना प्राप्त करने की इच्छा मुझे उक्त कांग्रेस अधिवेशनो मे ले गई थी। उससे अधिक मेरा कोई अन्य उद्देश्य नहीं था। पर लाहौर कांग्रेस के बाद जब 26 जनवरी, 1930 को देश भर मे स्वाधीनता-दिवस मनाया गया तो उसमे जैसे मैं पूरी अन्तः प्रेरणा के साथ सम्मिलित हुआ। उन दिनो मैं गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार मे था। उस दिन के सभी प्रदर्शनों मे पूरे मनोयोग से मैंने भाग लिया। मार्च, 1930 मे गाधीजी ने नमक सत्याग्रह प्रारम्भ किया। देश भर में जगह-जगह बड़े-बड़े जुलूस निकालकर हजारो-लाखों दर्शको के बीच कानून तोडकर नमक बनाया जाने लगा। हम लोग हरिद्वार तथा पंचपुरी में प्रतिदिन जुलूस निकालते थे और हर की पौड़ी पर नमक बनाते थे। सामूहिक गीतों के बीच ऊंची वेदी पर सोधा पानी खौला कर नमक बनाया जाता और उसी मजमे के बीच उस गैर-कानूनी मटमैले नमक की छोटी-छोटी पुड़ियां दो-दो, चार-चार आने मे बेची जाती। क्योंकि गैरकानूनी नमक बनाने से बड़ा कानूनी अपराध वह नमक बेचना था। यह कार्यक्रम निरन्तर चलता रहा।

क्रमशः सारे देश में एक जबर्दस्त आन्दोलन

अनजाने ही में देश के अन्य हज़ारों नवयुवकों के समान मैं भी इस आन्दोलन में आगे-आगे बढ़ता चला गया। हम लोगों ने हरिद्वार के लिए सात व्यक्तियों की एक युद्ध समिति का चुनाव किया। मुझे भी इस युद्ध समिति में चुन लिया गया।

इस युद्ध समिति की देख-रेख में सैकड़ों ऐसे व्यक्तियों की सूची बनाई गई, जो अपनी आय का एक प्रतिशत से लेकर दस प्रतिशत तक इस आन्दोलन के लिए देने को तैयार हों। बहुत शीघ्र यह आय हज़ारों रुपये प्रतिमास तक पहुंच गई। इस राशि से हम लोगों ने कुछ बसें किराए पर लीं, स्वयं सेवकों के निवास और भोजन का प्रबन्ध किया और आवश्यक साहित्य छपवाया। केवल हरिद्वार ही नहीं, सम्पूर्ण पंचपुरी में विदेशी कपड़ों की दुकानों पर पिकेटिंग होने लगा। बहुत शीघ्र विदेशी वस्त्र-विक्रेता ने जनमत के सामने हथियार डाल दिए और हम लोगों ने उनके विदेशी वस्त्रों को सील कर दिया। अब हमारे स्वयं सेवकों का मुख्य काम यह देखना था कि कोई दुकानदार हमारी सील तो नहीं तोड़ता। यदि कोई दुकानदार ऐसा करता तो युद्ध समिति ऐसे मामलों में भारी जुरमाना करती थी, जो बाकायदा वसूल किया जाता था। ऐसा एक भी उदाहरण नहीं हुआ, जब वह जुरमाना अदा न किया गया हो।

पर ज्वालापुर में कुछ शराब की दुकानें थीं, जिनके मालिकों ने आत्मसमर्पण नहीं किया था। हमारे संगठन की सबसे बड़ी शक्ति अब उन्हीं दुकानों की पिकेटिंग पर लग रही थी। आचार्य देवशर्मा इस आन्दोलन के नेता थे। जब वहां दमन चक्र का दौर चला तो युद्ध समिति की आय को सुरक्षित तथा उसके स्रोत को पूरी तरह गुप्त रखना और भी आवश्यक हो गया। उन्हीं दिनों मुझे युद्ध समिति का कोषाध्यक्ष बना दिया गया। इस तरह जाने-अनजाने मेरा उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ गया।

स्वाधीनता का वह देशव्यापी आन्दोलन प्रतिदिन उग्र से उग्रतर होता चला जा रहा था। देश में नए-नए नेता जन्म ले रहे थे और मेरी धारणा है कि 1930 में जिस तरह जनता में से ही त्याग, निष्ठा और प्रतिभा के के बल पर स्वयं ही नेता बन गए किशोरों और नवयुवकों के नेतृत्व में उक्त आन्दोलन चलाया—वह सब इस देश के नवीन इतिहास का एक अत्यन्त

उसके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट कर सकूं। शायद उसी शाम तक वह मेरा नाम भी भूल गया था। अब सोचकर देखता हूं तो पाता हूं कि देवदत्त के समान निष्काम भाव से दूसरों का भला करने वाले व्यक्ति मैंने अपने जीवन में बहुत कम देखे हैं। और यह सोचकर मेरा मस्तक श्री देवदत्त की दिवंगत आत्मा के प्रति अपने आप ही विनयावनत हो जाता है।

राजनीतिक जीवन ने मुझे कभी अपनी ओर आकृष्ट नहीं किया। पर उस जीवन के प्रति मेरा विराग जन्मगत नहीं है। मेरी पीढ़ी की जिन्दगी में एक ऐसा युग भी आया था, जिसमें सैकड़ों-हज़ारों बल्कि लाखों अनुभूतिशील भारतीय देश की स्वतन्त्रता के संग्राम में जूझ पड़े थे, चाहे राजनीति की ओर उनकी रुचि हो या न हो।

सन् 1928 की कलकत्ता कांग्रेस मे और उसके बाद 1929 की लाहौर काग्रेस में मैं प्रतिनिधि रूप से सम्मिलित हुआ था। दोनों बार मुख्यतः काग्रेस आंदोलन को भीतर से समझने और साथ ही साथ इतने बड़े मेलों की उत्तेजना प्राप्त करने की इच्छा मुझे उक्त काग्रेस अधिवेशनो मे ले गई थी। उससे अधिक मेरा कोई अन्य उद्देश्य नही था। पर लाहौर काग्रेस के बाद जब 26 जनवरी, 1930 को देश भर मे स्वाधीनता-दिवस मनाया गया तो उसमे जैसे मैं पूरी अन्तः प्रेरणा के साथ सम्मिलित हुआ। उन दिनों मैं गुरुकुल कांगडी, हरिद्वार में था। उस दिन के सभी प्रदर्शनों मे पूरे मनोयोग से मैंने भाग लिया। मार्च, 1930 मे गाधीजी ने नमक सत्याग्रह प्रारम्भ किया। देश भर में जगह-जगह बड़े-बड़े जुलूस निकालकर हज़ारो-लाखों दर्शकों के बीच कानून तोड़कर नमक बनाया जाने लगा। हम लोग हरिद्वार तथा पंचपुरी में प्रतिदिन जुलूस निकालते थे और हर की पौड़ी पर नमक बनाते थे। सामूहिक गीतों के बीच ऊंची वेदी पर सोंधा पानी खौला कर नमक बनाया जाता और उसी भजने के बीच उस गैर-कानूनी मटमैले नमक की छोटी-छोटी पुड़ियां दो-दो, चार-चार आने मे बेची जाती। क्योंकि गैरकानूनी नमक बनाने से बडा कानूनी अपराध वह नमक बेचना था। यह कार्यक्रम निरन्तर चलता रहा।

क्रमशः सारे देश में एक जबर्दस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। अपने

अनजाने ही में देश के अन्य हजारों नवयुवकों के समान मैं भी इस आन्दोलन में आगे-आगे बढ़ता चला गया। हम लोगों ने हरिद्वार के लिए सात व्यक्तियों की एक युद्ध समिति का चुनाव किया। मुझे भी इस युद्ध समिति में चुन लिया गया।

इस युद्ध समिति की देख-रेख में सैकड़ों ऐसे व्यक्तियों की सूची बनाई गई, जो अपनी आय का एक प्रतिशत से लेकर दस प्रतिशत तक इस आन्दोलन के लिए देने को तैयार हों। बहुत शीघ्र यह आय हजारों रुपये प्रतिमास तक पहुंच गई। इस राशि से हम लोगों ने कुछ बसें किराए पर लीं, स्वयं सेवकों के निवास और भोजन का प्रबन्ध किया और आवश्यक साहित्य छपवाया। केवल हरिद्वार ही नहीं, सम्पूर्ण पंचपुरी में विदेशी कपड़ों की दुकानों पर पिकेटिंग होने लगा। बहुत शीघ्र विदेशी वस्त्र विक्रेता ने जनमत के सामने हथियार डाल दिए और हम लोगों ने उनके विदेशी वस्त्रों को सील कर दिया। अब हमारे स्वयं सेवकों का मुख्य काम यह देखना था कि कोई दुकानदार हमारी सील तो नहीं तोड़ता। यदि कोई दुकानदार ऐसा करता तो युद्ध समिति ऐसे मामलों में भारी जुरमाना करती थी, जो बाकायदा वसूल किया जाता था। ऐसा एक भी उदाहरण नहीं हुआ, जब वह जुरमाना अदा न किया गया हो।

पर ज्वालापुर में कुछ शराब की दुकानें थीं, जिनके मालिकों ने आत्म-समर्पण नहीं किया था। हमारे संगठन की सबसे बड़ी शक्ति अब उन्हीं दुकानों की पिकेटिंग पर लग रही थी। आचार्य देवशर्मा इस आन्दोलन के नेता थे। जब वहां दमन चक्र का दौर चला तो युद्ध समिति की आय को सुरक्षित तथा उसके स्रोत को पूरी तरह गुप्त रखना और भी आवश्यक हो गया। उन्हीं दिनों मुझे युद्ध समिति का कोषाध्यक्ष बना दिया गया। इस तरह जाने-अनजाने मेरा उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ गया।

स्वाधीनता का वह देशव्यापी आन्दोलन प्रतिदिन उग्र से उग्रतर होता चला जा रहा था। देश में नए-नए नेता जन्म ले रहे थे और मेरी धारणा है कि 1930 में जिस तरह जनता में से ही त्याग, निष्ठा और प्रतिभा के के बल पर स्वयं ही नेता बन गए किशोरों और नवयुवकों के नेतृत्व में उक्त आन्दोलन चलाया—वह सब इस देश के नवीन इतिहास का एक अत्यन्त

शानदार अध्याय है। महात्मा गांधी जैसे युग पुरुष का दिव्य भाव उन दिनों जैसे देश के कितने ही छोटे-बड़े व्यक्तियों में प्रतिबिम्बित हो उठा था और एकाएक वे साधारण से असाधारण बन गए थे।

एक ऐसा ही किशोर हमारे यहां भी था। गुरुकुल कांगड़ी का एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी, सर्वमित्र जिसकी उम्र अभी बीस साल की भी नहीं थी। कल तक का वह एक सामान्य विद्यार्थी, एकाएक जैसे दैवी शक्ति सम्पन्न हो उठा। किसी देश के इतिहास में ऐसे चमत्कार प्रतिदिन नहीं होते। भारत में उन दिनों कितने ही सर्वमित्र हुए होंगे, जिन्हें मैं नहीं जानता। पर यह मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूं कि अपने जीवन में एक सर्वमित्र को अपने नजदीक देख और पहचान पाया।

जुलाई 1930 में जब देश में दमनचक्र जोर-शोर से चलने लगा तो एक प्रातःकाल हमारी युद्ध समिति के अधिकांश सदस्य एक साथ गिरफ्तार कर लिए गए। उसी दिन सर्वमित्र ने घोषणा कर दी कि आज से गुरुकुल में पढ़ाई नहीं होगी और गुरुकुल के सभी विद्यार्थी आपस के इलाके में सविनय अवज्ञा का आन्दोलन संगठित करेंगे। गुरुकुल के अधिकारियों ने हज़ार कोशिशें कीं, मगर वे सब बेकार गईं। उसी दिन से गुरुकुल में पढ़ाई बन्द हो गई और सर्वमित्र के नेतृत्व में इलाके भर के किसानों को संगठित करने के कार्यक्रम बनने लगे।

दमनचक्र प्रारम्भ होते ही युद्ध समिति के सभी कागज छिपा दिए गए थे। जिस दिन मुझे कोषाध्यक्ष बनाया गया था, उसी दिन यह भी निश्चय किया गया था कि मैं जेल न जाऊं, ताकि संगठन की अर्थ-व्यवस्था में बाधा न आने पाए। इस सम्बन्ध में सभी सतर्कताएं बरती गई थीं और परिणाम यह हुआ था कि युद्ध समिति के अन्य सदस्यों के साथ मैं गिरफ्तार नहीं हुआ था।

सर्वमित्र की घोषणा पर जिस दिन गुरुकुल में पूरी हड़ताल हुई, उसी रात सर्वमित्र मेरे पास आया। रुड़की तहसील को केन्द्र बनाकर गावों में काम करने तथा उस प्रदेश के हजारों-लाखों किसानों को संगठित करने की योजना उसने मुझे बताई। उसका इरादा यह था कि ये हजारों संगठित किसान एक साथ लगान बन्दी कर दें। स्पष्टतः उक्त योजना उस इलाके

के कुछ श्रेष्ठ कार्यकर्ताओं की सलाह मे बनाई गई थी। योजना अत्यन्त साहसपूर्ण थी। कोई ऐसा व्यक्ति ही उस योजना को पूरा करने का उत्तरदायित्व अपनेपर ले सकता था, जो जान पर खेल जाने को तैयार हो। सर्वमित्र ही ऐसा व्यक्ति था जिसने स्पष्टत. 'अभी या फिर कभी नहीं !' के सिद्धान्त पर आचरण करने का पूर्ण निश्चय कर लिया था। सर्वमित्र मुझे अपने बड़े भाई के समान मानता था और चाहता था कि मै भी उसका साथ दू। उसने मुझसे कहा, "आप को जेल नही जाना। पीछे रहकर काम करना है। सभी कामो मे आप की सलाह मेरे लिए उपयोगी सिद्ध होगी।"

पर मैं अपने को इस तरह के आन्दोलन मे भाग लेने के अनुपयुक्त पा रहा था। मुझे यह भी ख्याल आया कि रुड़की तहसील के हृष्ट-पुष्ट और सम्पन्न किसान एक बार सगठित होकर उठ खड़े हुए तो उन पर किसी तरह का नियन्त्रण रख सकना हम किशोरों और नौजवानों के लिए सभव न होगा। वे लोग महात्मा गांधी के अहिंसा मार्ग पर नही चलेंगे और हम लोग इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर पाएगे। इन परिस्थितियों मे नौकरशाही की पुलिस को अन्धाधुन्ध गोली चलाने का अवसर मिल जाएगा और इस तरह इस सम्पूर्ण प्रयत्न का भयकर परिणाम हो सकता है।

मेरे इस दृष्टिकोण से सर्वमित्र सहमत नही हुआ। वह मुझे बड़े भाई के समान मानता था, फिर भी उसने मुझसे कहा, "यह सब तो भीरुता की दलीलें हैं।" सर्वमित्र ने मुझसे यहां तक कहा कि "स्वाधीनता के संग्राम में व्यक्ति के जीवन का महत्व ही क्या है। अगर हम लोगो मे से कोई गोली खाकर मरेगा तो वह इस आन्दोलन को और अधिक प्रेरणा देने का साधन बनेगा। इसमे हर्ज ही क्या है।"

इस सम्बन्ध में हम दोनों में काफी लम्बा वाद-विवाद हुआ। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, सर्वमित्र स्वयं मुझे खतरे से दूर रखना चाहता था। साथ ही साथ वह यह भी चाहता था कि मैं साथ चलू, लोगो की आखों में आए बिना सब कामो मे दिलचस्पी लूं और सलाह मशविरा देता रहूं।

रात काफी बीत गई थी, मैंने सर्वमित्र से कहा, "तुम्हारी बात मे काफी तत्व है। पर अपनी शक्ति मुझे टटोल कर देखनी है। तुम्हारे जाने

के बाद मैं इस बात पर गम्भीरता से विचार करूंगा और यदि मुझे यह अनुभव हुआ कि मैं भी इस मार्ग पर चल सकता हूं तो प्रातः पौने सात बजे तुम मुझे रेलवे स्टेशन पर पाओगे। अन्यथा मैं यहां ही से तुम्हारे लिए मंगल कामना किया करूंगा।"

सर्वमित्र मुस्करा कर उठ खड़ा हुआ। चलते हुए उसने मुझसे कहा "रुड़की वाली रेलगाड़ी ज्वालापुर स्टेशन से ठीक सात बजे चलती है। आप पौने सात बजे जरूर पहुंच जाइएगा। मुझे तो और भी बहुत से काम हैं, इससे मैं तो पांच बजे ही यहां से चला जाऊंगा।"

चलते-चलते मुस्करा कर उसने कहा, "आपकी घड़ी तो ठीक है न ?"

मैंने कहा, "ठीक नहीं भी है, तो अब ठीक हो जाएगी।"

सर्वमित्र के जाते ही मैंने चौकीदार से कहा कि मेरी घड़ी का टाइम ठीक कर दे। उसके बाद मुंह-हाथ धोने के उद्देश्य से मैं गुसलखाने में चला गया। दस मिनटों में अपने कमरे मे वापस आया तो वर्षा शुरू हो गई थी। मेरे कमरे की टाइम पीस (जिसका एलार्म उन दिनों काम नहीं कर रहा था) मेरे सिरहाने के पास एक तिपाई पर रखकर चौकीदार चला गया था। चारों ओर सन्नाटा था। अपने कमरे की बत्ती बुझाकर मैं दाहिनी ओर की खुली खिड़की के पास जा खड़ा हुआ और उस अन्धकार मग्न बरसाती रात की ओर एकटक देखने लगा। दिखाई तो मुझे तभी देता था, जब बिजली चमकती थी, पर सुनाई बहुत कुछ दे रहा था। वर्षा पड़ने की टप-टप आवाज, गीली हवा से हिलती हुई टहनियों की ध्वनि और बीच-बीच मे बिजली चमकने के कुछ क्षणों के बाद बादलों की गम्भीर गरज। पर इन सब आवाजों से बड़ी सर्वमित्र की आवाज थी, जो सम्पूर्ण देश की पुकार बनकर मेरे अन्तर में निरन्तर प्रतिध्वनित हो रही थी।

उस अंधकार में दूर तक देख सकना सम्भव नहीं था फिर भी मुझे अपना मार्ग चुनने मे अधिक समय नहीं लगा। बहुत शीघ्र मैंने निश्चय किया कि मैं प्रातः अटैची केस में कुछ पहनने के कपड़े और एक कम्बल लेकर ज्वालापुर स्टेशन पर पहुंच जाऊंगा। उसके बाद आन्दोलन की यह तेज धारा जहां मुझे बहा ले जाएगी, बहता चलूंगा। जो कुछ होगा, देखा जाएगा। एकाएक किसी निश्चय पर पहुंच जाने से मुझे एक तरह की

शान्ति का अनुभव हुआ। कमरे की बत्ती जलाकर शीघ्रता से मैंने अपना अटेंची केस ठीक किया और तब अपने बिस्तरे पर जाकर लेट गया।

सुबह जल्दी उठने की मेरी आदत नहीं है। प्रातः जब मेरी नींद टूटी तो मैंने पाया कि टाइम पीस में छह बजने मे पांच मिनट बाकी हैं। मेरे निवास स्थान से नहर के किनारे की राह ज्वालापुर स्टेशन ठीक दो मील है। मैं तेज चलता हूं, इससे सवा छः बजे चलकर भी मैं पौने सात बजे वहां अवश्य पहुंच जाऊंगा। रात सोने से पहले मैं चौकीदार से कहना चाहता था कि वह मुझे साढ़े पांच बजे जगा दे, पर वह बेचारा कहीं बारिश में फंस गया था। खैर अब भी समय था। पन्द्रह मिनटों में आवश्यक कामों से, जिनमें शेविंग भी सम्मिलित है, मैं निबट लेता हूं। मेरा अटेंची केस तो तैयार पड़ा ही था। ठीक छ. बजकर दस मिनट पर मैं कपड़े पहनकर तैयार हो गया। पर ड्राअर में से पर्स के साथ जब मैंने अपनी कलाई घड़ी निकाली तो मुझे बिजली का करेण्ट छू गया। मेरी कलाई घड़ी में छः बजकर चालीस मिनट हो चुके थे।

क्षण भर के लिए मैं तो किर्त्तव्य विमूढ़-सा हो गया। उसके बाद मैंने यही निश्चय किया कि कमरे में ताला लगाकर रेलवे स्टेशन की ओर भागूं। चुनाचे मैंने वही किया।

पर मैंने पाया कि दस सेर का अटेंची केस और कम्बल उठाकर दौड़ लगा सकना आसान काम नहीं है। उन दिनों गुरुकुल में कोई भी सवारी मिल सकना सम्भव नहीं था। सो उसके लिए तो मैंने कोई प्रयत्न भी नहीं किया और कभी दौड़ कर, कभी तेज चाल से मैं वह अत्यन्त सुन्दर रास्ता पार करने लगा।

मैं सोच रहा था—मेरी टाइमपीस आधा घण्टा लेट किस तरह हो गई? फिर ख्याल आया कि कलाई घड़ी तेज भी तो हो सकती है। [illegible] यह भी ख्याल आया कि ट्रेन वक्त ही पर चले, यह भी तो कोई [illegible] नहीं है। यह सब सोचते हुए मैं खूब तेजी से ज्वालापुर स्टेशन की ओर भागा जा रहा था। नहर के पुल तक तो मुझे इक्के-दुक्के आदमी [illegible] मिले, उसके बाद रेल की पटरी के सहारे आगे बढ़ना था। [illegible] सन्नाटा था। रेल लाइन के दोनों ओर घास के बड़े-बड़े झाड़ थे।

में अभी तक बादल छाए थे और मैं तेजी से बढा जा रहा था। इस तरफ साप बहुत होते हैं। बरसात में वे बाहर निकलते हैं, इससे मैं पूरी सतर्कता से रेलवे ला.इन के बीचोंबीच ठीक एक जैसे अन्तर पर रखे लकड़ी के स्लीपरो पर तेजी से चल रहा था और जैसे एक-एक कदम के साथ मैं एक-एक गज मापता चला जा रहा था।

क्रमश. पहला सिगनल मैं पार कर गया। घड़ी पर निगाह डाली तो उसमे सात बजने ही वाले थे। उसी समय दूर पर रेल के इजन की सीटी मुझे सुनाई दी और थकावट भूलकर मैं स्लीपरो पर दौड़ने लगा। स्टेशन अब आधा मील भी नही था। क्रमशः मैं दूसरे सिगनल के पास जा पहुंचा, जो स्टेशन के निकट ही था। रेलवे लाइन यहा जरा मोड लेती है। मैं इस मोड़ के साथ घूमा ही था कि रेलगाड़ी मुझे अपनी ओर आती हुई दिखाई दी मेरा जी बैठ-सा गया। जैसे मेरी सारी मेहनत अकारथ चली गई हो।

मैं लाइन से हटकर एक किनारे खडा हो गया। अत्यन्त क्षीण रूप मे यह आशा अभी तक मेरे मन में थी कि यह कोई मालगाड़ी भी तो हो सकती है। पर क्षण भर में वह क्षीण आशा भी चकनाचूर हो गई, क्योंकि ट्रेन मेरे निकट आ पहुंची थी। मैं गाडी के बहुत निकट खडे होकर डिब्बों की ओर देख रहा था। मेरे एक हाथ मे अटैची केस था और दूसरे मे छाता। कन्धे पर कम्बल पड़ा हुआ था। एक-एक कर डिब्बे आगे बढ़ रहे थे। खिड़की की राह मैंने देखा, गाड़ी मे भीड़ नही थी। एकाएक सर्वमित्र की निगाह मुझ पर पड़ी और हम दोनों की निगाहें क्षण भर के लिए मिलीं। वह खुशी से भरकर चिल्लाया—"आखिर आप घर से चल तो दिए थे!" इसके बाद उसने क्या कहा, वह तो मैं सुन नही पाया। पर उसके एक साथी ने चिल्लाकर कहा······"गांव में कल जरूर पहुंच जाइए।"

गाड़ी आगे बढ़ गई और भारी कदमों से मैं धीरे-धीरे वापस लौट चला। एक निराशापूर्ण झुंझलाहट ने जैसे एकाएक मुझे अभिभूत कर लिया। आखिर यह सब क्या है। कल रात तक मेरा इधर आने का जरा भी इरादा नही था। वह इरादा बना, तो यह अजीब-सी रुकावट क्यों और किस तरह पैदा हो गई! चौकीदार कभी जान-बूझकर मेरी घड़ी लेट नही कर सकता। इस सब का अभिप्राय क्या है। कुछ समझ नही आता।

अपने निवास स्थान पर वापस आया तो चारों ओर की परिस्थितियां जैसे काटने को दौड़ी। सब तरफ गहरा सन्नाटा था। प्रोफेसर लोग शायद अपने घरों मे बन्द थे। अधिकांश विद्यार्थी सर्वमित्र के साथ चले गए थे। दिखाई देते थे तो गुरुकुल के नौकर-चाकर और छोटे विद्यार्थी। मेरा जी बहुत उचाट हो गया और मैं अपने बिस्तरे पर लेट गया।

लेटे-लेटे न जाने कितना समय बीता होगा कि किसी ने मेरा द्वार खट-खटाया। उठकर मैंने देखा तो तार देने वाला हरकारा था। गुरुकुल में तार आना बहुत असाधारण बात थी, क्योंकि उन दिनों वहां तार घर नही था, और दो मील से तार का हरकारा विशेष अवस्थाओ मे ही वहां आता था। देखा तो मेरे पिताजी का तार था और किसी अत्यन्त आवश्यक व्यक्तिगत कार्य से उन्होने मुझे पंजाब में बुलाया था।

इस तरह उस प्रात.काल रेलगाड़ी का छूट जाना सचमुच मेरे जीवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ। उस दिन के बाद जो कुछ हुआ, वह राजनीतिक जीवन से मुझे बहुत दूर ले गया। उसके बाद छह ही महीनों में मेरे व्यक्तिगत जीवन में एक के बाद एक जो बड़ी-बड़ी घटनाएं घटी और जो मुझे तब तक के अभ्यस्त जीवन से बहुत दूर खींच ले गई, उनका वर्णन यहां अप्रासंगिक है।

इन नई और एकदम भिन्न परिस्थितियों मे भी मैं दो दिन निकाल-कर सर्वमित्र का काम देखने गया था। एक गांव मे उसने एक बहुत बड़ा राजनीतिक सम्मेलन संगठित किया था, जिसमें बीस हजार से ऊपर किसान बड़े उत्साह के साथ सम्मिलित हुए थे। उन हट्टे-कट्टे स्वस्थ किसानों का वह उत्साह, भूलने वाली चीज नही है। मैं उन लोगों के बीच सिर्फ एक दिन और एक रात ही रह पाया था।

उक्त सम्मेलन के सिर्फ 5 सप्ताह बाद लाहौर में एक प्रातः मैं नहा-धोकर कपड़े पहन ही रहा था कि रुड़की से एक तार मुझे मिला, जिसमे लिखा था कि सर्वमित्र शहीद हो गया है। सर्वमित्र की शहादत गोली खाने या फांसी चढ़ने से भी बढ़कर वीरतापूर्ण थी। अपनी मृत्यु शय्या से एक अधूरा पत्र उसने मुझे लिखा था, जो आज भी मेरे पास सुरक्षित है। पाकिस्तान में मेरा सभी सामान छूट जाने के बावजूद यह पत्र मेरे स्वर्ण बक्स में मेरे साथ चला आया है।

लाहौर के तीन अध्याय

लाहौरवासियों को अपने शहर पर जो नाज था, वैसा नाज कम से कम भारत के किसी अन्य नगर के निवासियों में अपने शहर के संबंध में मुझे दिखाई नहीं दिया। लाहौरवासी बड़े गर्व से अपने नगर को भारत का पेरिस कहा करते थे। और मजे की बात यह है कि उन दिनों का सारा सम्मिलित पंजाब लाहौरवासियों के इस अभिमान का पोषण करता था। आज से 40 वर्ष पहले यदि आप किसी पंजाबी से पूछते कि भारत का सबसे अच्छा कालेज कौन-सा है? तो जवाब मिलता—लाहौर का गवर्नमेंट कालेज। भारत की सबसे शानदार सड़क कौन-सी है?—लाहौर की माल रोड। भारत का सबसे सुन्दर और बड़ा उद्यान कौन-सा है?—लाहौर का लारेंस गार्डन। पंजाबियों को गर्व था कि लाहौर के नौजवान जिस तरह की कट का सूट आज पहनते हैं, कल भारत भर के नौजवान उस फैशन का अनुसरण करने लगते हैं। लाहौर की युवतियां जिस ढंग से वेशभूषा करती हैं, जिस तरह काट के कपड़े पहनती हैं, जिस तरह साज-सिंगार करती हैं, कल भारत की नवयुवतियां वैसा ही करने लगती हैं। लाहौर में सलवार कमीज का फैशन चला, तो वह सारे भारत में फैल गया। बुखारी जैसे लोगों का कहना था कि लाहौर आज जो कुछ करता है, कल सारा भारत वही करने लगता है।

लाहौर के नागरिकों को अपने नगर से प्यार भी बेहद था। आज विभाजन को अनेक बरस बीत रहे हैं। पर लाहौर से विस्थापित हजारों भारतीय नागरिक आज भी लाहौर के सपने लेते हैं, मैं खुद उन्हीं लोगों में से एक हूं। दिल्ली रहते मुझे एक अरसा बीत गया। मेरे परिचितों और मित्रों की संख्या यहां शायद लाहौर से भी अधिक हो, पर लाहौर के प्रति मुझे जो अपनापन अनुभव होता था, उसका आधा भी दिल्ली में नहीं है। यही अनुभव अन्य भी हजारों पुराने लाहौरवासियों का है।

कैसा था वह पुराना लाहौर?

पेरिस की तरह लाहौर के भी दो रूप थे, पेरिस के समान एक तरफ लाहौर फैशनो और फैशनपरस्ती का केन्द्र था। आज से 40 साल पहले भी लाहौर के कालेजों की लड़किया बडी सख्या मे रूज और लिपस्टिक का इस्तेमाल करती थी। उस युग में, जबकि उत्तर भारत के बहुत से नगरो में अधिकांश भद्र महिलाएं पर्दे में रहती थीं। पांच लाख की आबादी के लाहौर मे 20 कालेज थे। जिनमें महिला कालेजों की संख्या 6 थी। लाहौर के ये सब विद्यार्थी, प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, सरकारी कर्मचारी, यहा तक कि प्रमुख दूकानदार सभी तरह के लोग खूब अच्छी काट के सूट पहनते थे। टेबुल पर खाना खाते थे और अपने ड्राइंगरूमों को खूब सजा-कर रखते थे। सड़को पर सैकडों युवतियां साइकिल चलाती हुई दिखाई देती थी। दूसरी तरफ, पेरिस ही के समान लाहोर नाट्यकला, चित्रकला, सगीत और उच्च शिक्षा का केन्द्र था। लाहौर के पुस्तकालय भारत भर के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकते थे। जो पुस्तकें आपको भारत में अन्य कही उपलब्ध न हों, वे आपको लाहौर के पुस्तकालय में अथवा बड़े पुस्तक-विक्रेताओ से प्राप्त हो सकती थी।

लाहौर कितने ही आन्दोलनो का केन्द्र था। और उनमें से कुछ जैसे एक दूसरे की रोकथाम करते थे। लाहौर आर्यसमाज आदोलन का सबसे बड़ा गढ था। यह सच्चाई है कि लाहौर के पाकिस्तान चले जाने से जितनी बड़ी हानि आर्यसमाज आन्दोलन की हुई है, उतनी अन्य किसी एक सस्था या आन्दोलन की नही हुई। दूसरी तरफ लाहौर इस्लाम का भी केन्द्र था। पर दोनों एक दूसरे की शक्ति पहचानते थे और इस कारण एक दूसरे की कदर करते थे। उधर लाहौर की सनातन धर्म सभा और खालसा दरबार भी सजीव संस्थाएं थी। पर इन सब में जैसे एक अलिखित समझौता था। सब अपना-अपना काम और अपना-अपना चिंतन करते थे, पर एक दूसरे को सहन भी करते थे। जियो और जीने दो, जैसे उस सम्मि-लित लाहौर का आदर्श था।

एक तरफ लाहौर अंग्रेजी शासन का मजबूत गढ़ था, तो दूसरी तरफ भगतसिंह जैसे क्रांतिकारियो की भी कार्यभूमि था। लाहौर के इतिहास में

तीन वर्षों में दो जबर्दस्त क्रान्तिकारी मुकदमे चले, जो लाहौर 'कांस्पिरेसी केस' के नाम से भारत के इतिहास का अंग बन चुके हैं।

पुराना लाहौर हिंदू, मुसलमान और सिक्खों का सम्मिलित नगर था, एक हद तक ईसाइयों का भी। विशेषतः फोरमैन क्रिश्चियन कालेज द्वारा। लाहौर के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक उत्थान में सभी सम्प्रदायों का योगदान था। स्कूलों और कालेजों के नाम इस्लामिया, दयानन्द, आर्यसमाज, सनातन धर्म, खालसा, क्रिश्चियन आदि थे। पर वे एक दूसरे के प्रति अविनीत नहीं थे। जैसाकि मैं पहले कह चुका हू, वे एक-दूसरे की शक्ति पहचानते थे। परस्पर विरोधी आन्दोलनों और संस्थाओं के सक्रिय योगदान से लाहौर के जीवन में असाधारण और सम्पन्न विविधता तथा जीवनभरी सहनशीलता आ गई थी। रावी रोड पर, जहां उषा का आगमन ब्राह्म मुहूर्त में नदी की ओर जाती हुई आर्य महिलाओं के भजनों और वेदमन्त्रों के पाठ द्वारा होता था, जिसे मुल्लाओं की बांग और भी अधिक सटीक बना देती थी, वहां माल रोड पर दिन का अवसान कम से कम पांच रेस्तरां और होटलों में विदेशी वाद्य वृंदों की ध्वनि मे सैकड़ों युवक और युवतियों के बालरूम डांस द्वारा होता था।

लाहौर मे सभी त्योहार बडी धूम-धाम से मनाए जाते थे। दशहरे के दिन एक बडे मैदान में एक लाख के लगभग हिंदू, सिक्ख और मुसलमान जमा होते थे, जहां बड़े उत्साह से रावण के पुतले को आग लगाई जाती थी, इस तरह दिवाली, ईद और गुरपरब जैसे सारा लाहौर एक साथ मनाता था। यह प्रसिद्ध था कि कलकत्ता के बाद क्रिसमस मनाने मे लाहौर का स्थान है। सर सिकन्दर हयातखान ने, जिनका दृष्टिकोण बहुत उदात्त था, अपने मुख्य मन्त्रित्व काल मे दो पुराने त्योहारों को राष्ट्रीय रूप देने का सफल प्रयास किया था—वसंत पंचमी और बैसाखी। इन दोनों त्योहारों में लाहौर के सभी संप्रदाय एक समान उत्साह से भाग लेते थे। सांझ को बड़े-बड़े सम्मिलित सहभोजों का तांता चलता था।

लाहौर का बुद्धिजीवी वर्ग न मुस्लिम लीग से प्रभावित था और न हिंदू महासभा से। ये दोनों आन्दोलन पंजाब की अपेक्षा उत्तरप्रदेश में कहीं अधिक प्रबल थे। उर्दू, अंग्रेज़ी और पंजाबी लाहौर की प्रमुख भाषाएं

थीं। हम लोगों के प्रयत्न से वहां हिंदी का भी अच्छा आदर होने लगा था। आर्यसमाज की बदौलत पंजाब की हिंदू महिलाओं की मुख्य भाषा हिंदी थी। लाहौर के सभी भाषाओं के लेखक एक दूसरे से काफी मिलते-जुलते थे। 'लिटरेरी लीग' में सभी भाषाओं के लेखक समान दिलचस्पी लेते थे। राजा नरेन्द्रनाथ और जस्टिस अब्दुल कादिर उन दिनों के लाहौर के सांस्कृतिक जीवन के नेता थे। और दोनों का दृष्टिकोण बहुत उदार था।

यह तथ्य कम लोगों को मालूम होगा कि सन् 1931 की जनगणना तक लाहौर में हिंदू और सिक्खों का बहुमत था। उसी वर्ष सर फजली हुसैन ने लाहौर के आसपास के बहुत-से गांव, जिनमे भारी मुस्लिम बहुमत था, लाहौर में मिला दिए और इस तरह लाहौर में 52 प्रतिशत सख्या मुसलमानों की हो गई। सर फजली हुसैन भी मुस्लिम लीग के हामी नहीं थे। न उनके बाद के मुसलमान नेता ही मुस्लिम लीगी थे। सन् 36 के आम चुनाव मे पंजाब की असेंबली में सिर्फ 3 या 4 मुस्लिम लीगी चुने जा सके थे। उधर उत्तरप्रदेश मे पाकिस्तान बनाने का आंदोलन प्रारंभ हुआ, पर लाहौर (जहां पहली बार मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग का प्रस्ताव स्वीकार किया, पर पंजाबी मुसलमानों की राय से नही) में सन् 1945 तक बहुत कम मुसलमान पाकिस्तान की बात को गम्भीरतापूर्वक लेते थे।

पर एक ही वर्ष में यह लाहौर एकाएक बदल गया। उत्तर भारत के अन्य नगरों के समान लाहौर मे भी हिंदू-मुस्लिम दंगे समय-समय पर होते रहे थे। परंतु ये दंगे लाहौर के एक निश्चित भाग मे ही हुआ करते थे, जिसका क्षेत्रफल पूरे लाहौर का दसवां अंश भी नही था। पूरी सिविल लाइन, अनारकली, माल रोड, दर्जनों नये नगर आदि में कभी दंगे-फसाद नहीं हुए थे। लाहौर के जो लाखों नागरिक सूट पहनते थे, उन्हें देखकर यह पता लगाना कि वह हिंदू है या मुसलमान, आसान नही था। हां, सिक्खों की बात दूसरी है, जिनकी पगड़ी और दाढी दूर से पहचान ली जा सकती है।

हुआ यह कि लाहौर पर देश भर में व्याप्त सांप्रदायिक अविश्वास और निरंतर बढ़ती हुई घृणा का प्रभाव एकाएक पड़ा। बिहार, बंगाल,

उत्तरप्रदेश आदि में जिस तरह हिंदू और मुसलमानों का एक भाग एक दूसरे के खून का प्यासा बन रहा था, उसका एहसास कुछ मुसलमान-मुल्लाओं ने योजनाबद्ध रूप से पहले रावलपिंडी और उसके बाद लाहौर तक पहुंचाया। सन् 46 के अन्त में रावलपिंडी के आसपास के अनपढ़ देहातियों ने क्रोध में आकर सैकड़ों-हजारों हिंदू और सिक्खों को लूटा और उनकी हत्या की और वहां से हजारों शरणार्थी लाहौर पहुँचे। उधर बिहार से आए मुल्ला और इधर घरबार लुटा कर आए सिक्ख और हिंदू शरणार्थी। लाहौर का वातावरण 1947 के प्रारम्भ तक अत्यन्त विक्षुब्ध हो गया। पीढ़ियों की 'एडजस्टमेंट' एकाएक समाप्त हो गई। असुरक्षा की भावना ने इंसान को हैवान बना दिया, वह भी सहसा!

लाहौर के कुछ क्षेत्रों में दगे फसादों की तैयारी बरसों से हो रही थी। पर इस सम्बन्ध में तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो यह कि लाहौर के जनसाधारण का बहुमत स्पष्टतः साम्प्रदायिक रक्तपात का विरोधी था। दूसरा यह कि जो थोड़े-से तबके इस तरह की तैयारी कर रहे थे, उनका भी मुख्य ध्येय प्रतिरक्षात्मक था, आक्रामक नहीं। तीसरा यह कि ऐसे व्यक्ति भी किसी एक सम्प्रदाय तक सीमित नही थे। हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख तीनों ही सम्प्रदायों मे थे।

सन् 1947 के प्रारम्भ तक लाहौर एकाएक बदल गया था। जो ग्रुप दंगा-फसादों की तैयारी कर रहे थे, क्रोध के आवेश ने उन्हें आक्रामक बना दिया। हवा कुछ ऐसी चली कि देखते ही देखते लाहौर का जीवन बदल गया। जगह-जगह रक्षात्मक संगठन बनने लगे, जिनका विश्वास था कि आक्रमण की पहल ही सबसे अच्छी प्रतिरक्षा है। यह बात लाहौर में बहुत बड़े पैमाने पर दिखाई देने लगी। इन तथाकथित प्रतिरक्षात्मक सगठनों ने पहले गंधक और मिट्टी का तेल जमा किया, आग लगाने के लिए, फिर बदूक और पिस्तौलें एकत्र की, बाद में इन्होने स्वय बम बनाने शुरु किए। सरकारी शस्त्र भंडारों से शक्तिशाली बम भी इन संगठनों के हाथ लगे। किस तरह, यह कोई नहीं जानता। मध्यकालीन युद्धों मे शत्रु के कैंप को आग लगाने के जो तरीके थे, वे सब बड़े पैमाने पर लाहौर में तैयार कर लिए गए।

मार्च, 47 मे लाहौर के जनसाधारण का यह अधा-युद्ध प्रारम्भ हो गया। सारा का सारा लाहौर भलेमानसो के लिए एकदम असुरक्षित बन गया। कही भी राह चलते व्यक्ति की पीठ मे छुरा भोका जा सकता था। किसी भी क्षेत्र में किसी भी समय कभी-कभी इतने शक्तिशाली बम फेंके जाते थे कि मीलो तक उनकी धमक सुनाई देती थी। मुसलमान क्षेत्रो में हिन्दू नही जा सकते थे और हिन्दू-सिक्ख क्षेत्रों में मुसलमानो का आना खतरे से खाली न था। मुश्किल उन इलाको की थी, जहा हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख एक साथ रहते थे। मेरे निवास स्थान, आशा-निकेतन के साथ वाला मकान एक मुसलमान जमीदार का था। दूसरी ओर तीसरा मकान सिख का था। हम लोगो ने अपने इलाके के लिए एक सम्मिलित 'शाति-समिति' बनाई, जिसकी बैठकें प्रतिदिन होती थी। पर सचाई यह है कि आपस के विश्वास में प्रतिदिन कमी होती चली जा रही था। बाहर से आक्रमण होने पर कोई क्या करेगा, यह कहना कठिन था।

इस मारपीट और लूटपाट से लाहौर के नागरिक खुश नही थे। उन पर यह सब जैसे एकाएक आरोपित कर दिया गया था। मेरे मकान के नजदीक एक जगह पर जबर्दस्ती कब्जा करके एक मुसलमान पहलवान रहता था, जिसके बारे मे मशहूर था कि उसने बीसों हत्याएं की हैं। मेरे प्रति इस व्यक्ति का रुख आदरपूर्ण था। एक दिन दोपहर के भोजन के समय जब मैं घर लौटा, तो देखा कि वह पहलवान 5, 6 अत्यन्त क्रूर दिखाई देनेवाले अपरिचितो के साथ तेजी से कही जा रहा है। वह उस वक्त पिये हुए भी था। मुझ पर उसकी निगाह पड़ी तो मैंने पूछा, "पहलवान, कहां जा रहे हो ?"

"इन लोगो के साथ उन काफिरो का कत्ल करने जा रहा हूं, जिन्होने इनके भाई-बदो को मारा है।" पहलवान ने एकाएक मुझे गले से लगा लिया और कहना जारी रखा, "इंसान पागल हो गया है साहब ! आप इस पागलपन से सदा बचे रहो, यही अच्छा है।"

और लाहौर का इसान सचमुच पागल हो गया था। किसी इलाके में 6 हिन्दू मारे गए है, तो उसी साझ तक किसी दूसरे इलाके में 12 मुसलमान मारे जाने चाहिए। चाहे वे कितने ही बेगुनाह क्यों न हो। खून का

बदला खून वाली बात बढ़कर सांप्रदायिक घृणा का यह उग्रतम रूप धारण करती जा रही थी कि दूसरे सम्प्रदाय के सभी लोग—पुरुष, स्त्री, बच्चे, बूढ़े सभी हतव्य हैं, एक मुसलमान मारा गया है तो उसके बदले मे 2 हिन्दू मारे जाने चाहिए, चाहे वे किसी और क्षेत्र में रहने वाले नवजात शिशु ही क्यों न हो। हेमंतकुमार और सदाकत बचपन के दोस्त हैं। दोनों गवर्नमेंट कालेज मे एक साथ पढ़ रहे हैं। दोनों एक दूसरे के यहां न सिर्फ निरन्तर आते-जाते हैं, अपितु बीसियों बार एक दूसरे के यहां रहे भी हैं। दंगों के कारण कालेज बंद था। हेमंत के जी में आया तो अपनी मोटरबाइक पर वह सदाकत के यहां जा पहुंचा। सदाकत के यहां कितने ही अपरिचित चेहरे उसे दिखाई दिए। उन्होने उसका नाम पूछा, जो उसने बता दिया। एकाएक हेमंत को पकड़ लिया गया और रस्सियो से बांध दिया गया। इस बीच सदाकत भी आ पहुंचा, पर वह तमाशबीन की तरह चुपचाप एक ओर खड़ा रहा। मित्र को बचाने की कोई चेष्टा उसने नहीं की। हेमंत को छुरा मारने के मंसूबे बनाये ही जा रहे थे कि सदाकत के पिता अचानक वहां आ पहुंचे और उन्होंने हेमंत को बचाया। वही स्वयं हेमंत को अपनी कार में उसके मकान पर भी छोड़ आए। इस तरह के और इसकी अपेक्षा भी कहीं अधिक दानवीय किस्से लाहौर मे प्रतिदिन घटित हो रहे थे। नगर भर मे, देश विभाजन से 5-6 महीना पहले ही से न कोई व्यवस्था थी और न कोई कानून था। लाहौर के अधिकांश सरकारी अफसर खुले रूप से अपने संप्रदायवाद की हिमाकत कर रहे थे। अंग्रेज अभी गए नहीं थे। जो थोड़ी-बहुत व्यवस्था बची हुई थी, वह उन्ही के डर से थी। मई जून में तो यहा तक नौबत पहुंच गई कि एक हिन्दू मोहल्ले पर मुसलमानों ने आक्रमण किया और हिन्दू घरो को जलाना शुरू किया। किसी भलेमानस ने पुलिस को टैलीफोन कर दिया। जो मुस्लिम पुलिस वहा पहुंची, उसने जलते घरों से भागते हुए हिन्दुओं पर ही गोली चलायी। आग लगानेवाले आततायियो पर नहीं।

क्रमश: लोगो ने सरकार को शिकायत करना ही बन्द कर दिया। इन सांप्रदायिक दंगों में जनसंघ के सैकड़ों युवक कार्यकर्ताओं ने सचमुच बहुत वीरता दिखाई। जनसंघ के कितने ही नौजवान स्त्रियों और बच्चो को

बचाते हुए गोलियों का शिकार बने। इस सांप्रदायिक अन्धयुद्ध मे जो साहस जनसंघ ने दिखाया, वह और किसी सगठन ने नही दिखाया। यह सचाई है कि यदि पुलिस मुसलमान आततायियों का साथ न देती, तो जनसंघ के कार्यकर्त्ता उन्हे काबू में रख सकते थे।

मई के अन्त में हिन्दू और सिक्ख लाहौर छोड कर दिल्ली या पूर्वी पंजाब के नगरों मे जाने लगे। देश-विभाजन की घोपणा के बाद लाहौर छोडकर जानेवाले लोगो की संख्या प्रतिदिन हजारों तक जा पहुंची। जनसघ तथा हिन्दू नेताओं ने बहुत प्रयत्न किया कि हिन्दू और सिक्ख लाहौर छोड़कर न जाएं, पर वे सफल न हो पाए।

इस बीच विभाजन की सीमा निश्चित करने के लिए रैंडक्लिफ कमीशन की नियुक्ति हो गई। हिन्दू तथा काग्रेसी नेताओं ने यहां तक दावा किया कि लाहौर भारत मे सम्मिलित किया जाएगा। कमीशन मे रैंडक्लिफ के अलावा दो सदस्य और थे: जस्टिस मेहरचन्द महाजन और जस्टिस अब्दुर्रशीद। केस लड़ने के लिए या इसी तरह के किसी उद्देश्य से हिन्दुओं ने लाखो रुपया चन्दे में एकत्र किया। हिन्दुओ मे इस बात पर शर्तें बदी जा रही थी कि लाहौर भारत मे आएगा कि पाकिस्तान मे। मुसलमानो को यह शक हुआ कि हिन्दू लोग कमीशन के मुसलमान सदस्य को खरीद लेने की कोशिश कर रहे हैं। उन्होंने मुस्लिम सदस्य की कोठी तथा उसके परिवार पर पहरा बिठा दिया। समय आया तो मुस्लिम सदस्य का मत लाहौर को पाकिस्तान में रखने के पक्ष में था और हिन्दू सदस्य का भारत में रखने के पक्ष में। रैंडक्लिफ ने मुसलमान सदस्य का साथ दिया।

कमीशन का निर्णय होते ही लाहौर में भयकर आतंक छा गया। हिन्दू और सिक्ख अपने घरबार छोड कर कैंपो मे जमा होने लगे। उनके घरबार उनके सम्मुख ही लूटे जाने लगे। इस बीच जो बलोची फौज लाहौर लाई गई, उसने बड़ी बेरहमी से हिन्दू और सिक्खों की हत्या की। कुछ ही सप्ताहों मे लाहौर के हिन्दू और सिक्ख नागरिक लाहौर छोड़कर भारत की ओर रवाना हो गए। स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े, बीमार—सभी; कोई-कोई कार पर, हजारों ट्रेनों में और लाखो (क्योंकि लाहौर से बाहर के पंजाबी हिन्दू और सिक्ख भी बहुत बड़ी संख्या में लाहौर आ गए थे)

काफिले बना कर पैदल। संसार के इतिहास का वह एक अत्यन्त करुणा-जनक दृश्य था।

पाकिस्तान बनने के सात महीने बाद मैं एक बार लाहौर गया था। अपनी पत्नी के आभूषण लाहौर के एक सेफ डिपाजिट से लेने। हम 35 व्यक्ति पुलिस में संरक्षण मे एक साथ लाहौर आए थे। दिल्ली से लाहौर तक की राह के दोनों ओर हजारों छोटी-छोटी और कच्ची कब्रें थीं। इनमें मुस्लिम काफिलो ने राह मे मरनेवाले अपने साथियों को दफनाया होगा। लाहौर अभी तक सहमा-सा हुआ था। मैला-कुचैला, हजारों-लाखों मुहाजरीनों से भरा, जिनमें से अधिकांश के कपड़े मैले-कुचैले और चीथड़ेनुमा थे। हवा में एक अजीब तरह की दुर्गंध व्याप्त थी। हिन्दू मुहल्लों के जले हुए अवशेष मैंने देखे। पूरे के पूरे मोहल्ले भस्म हो गए थे। अजीब खौफनाक नजारा था। हमें सुरक्षा देने के लिए पाकिस्तान पुलिस ने हम 35 व्यक्तियों से चार हजार रुपया नकद वसूल किया था। सुरक्षा हमें जरूर दी गई। जगह-जगह मुस्लिम भीड़ चिल्लाकर हमें कहती थी—"सिक्खों को हमारे हवाले दो!" जो 5, 6 सिक्ख हमारे साथ थे, वे गाड़ी मे सिर-मुंह नीचा किए इस तरह छिपे बैठे थे कि नीचे से दिखाई ही न दें।

जब भारत-पाक युद्ध शुरू हुआ, तो लाहौर की जनसंख्या 20 लाख के लगभग पहुंच गई थी। सन् 41 की जनगणना मे लाहौर की आबादी पांच लाख से कुछ कम थी। विभाजन से 4 महीना पहले तक यह अबादी 7 लाख के करीब हो गई थी। पाकिस्तानी लाहौर की आबादी बढ़ने के कितने ही कारण थे। लाहौर मे मकान बहुत अधिक संख्या में और बहुत अच्छे थे। बडी-बडी सार्वजनिक इमारतें (स्कूल, कालेज, संस्थाओं के भवन आदि) भी वहां 200 के लगभग थी। भारत से भागे मुस्लिम शरणार्थियों के लिए लाहौर सब से अच्छा आश्रय और कुछ न कुछ काम तलाश कर लेने का क्षेत्र था। यों भी विश्व भर मे नगरीकरण की प्रवृत्ति उस युग मे बढ रही थी।

पर 20 लाख आबादी का यह पाकिस्तान का सब से बड़ा नगर सन् 65 मे स्वाधीनता से पहले के लाहौर से एकदम भिन्न था। पुराने

लाहौर की सब से बड़ी विशेषता उस युग की मध्य श्रेणी थी, जिसका लाहौर में बहुमत था। उन दिनों यह श्रेणी लगभग सौ प्रतिशत साक्षर और अंशत शिक्षित थी। उस लाहौर मे भारत भर मे अनुपात की दृष्टि से सबसे अधिक संख्या में दैनिक अखबार छपते और बिकते थे। सांस्कृतिक गतिविधियों की दृष्टि से भी लाहौर भारत में अन्यतम था। पर सन् 65 का लाहौर दो स्पष्ट भागों में बंट गया था। एक छोटा-सा तबका वह जो अमरीकी सहायता के धन से अत्यन्त समृद्ध बन गया था। इस तबके ने लाहौर के गुलबर्ग नामक क्षेत्र में जैसे इंद्रपुरी बसा ली थी। एयर कंडीशंड बड़ी-बड़ी कोठियों की कतारें—प्रत्येक कोठी में कम से कम एक बहुत बड़ी अमरीकी कार। नौकरों की फौजें। प्रतिदिन शराब, नृत्य और सहभोजों के दौर। दूसरा लाहौर अत्यन्त गरीब था, जो झोंपड़ियों में रहता था, या किसी पुरानी आलीशान इमारत के एक कमरे मे पूरा परिवार। बरसों से उस इमारत की देखभाल नही हुई थी। यह तबका बेकारी और भुखमरी का सामना प्रतिदिन करता था। इन दोनों के बीच पुरानी मध्य श्रेणी कुचली जा रही थी। पुराने लाहौर के समृद्ध और सुसंस्कृत जीवन के अभ्यस्त बहुत से मुस्लिम परिवार लाहौर छोड़ कर या तो कराची चले गए थे या रावलपिंडी।

भारत की सीमा से लाहौर सिर्फ 22 मील है। स्वाधीनता से पहले के लाहौर मे इसी सडक पर औद्योगिक विकास हो रहा था। ख्याल था कि लाहौर से अमृतसर के बीच के 35 मील मिलकर एक हो जायेंगे, अमृतसर के निकट का औद्योगिक विकास भी इसी सड़क पर हो रहा था। छेरठा नामक उसी क्षेत्र मे युद्ध की समाप्ति के बाद पाकिस्तान ने बम गिराये थे।

विभाजन के बाद इस सडक को दोनो देशो की चौकियों ने बांटा। उसके बाद इच्छोगिल नहर इस मार्ग को 'सीगफ्रीड लाइन' बन गई। 'सीगफ्रीड लाइन' तो पाकिस्तान ने बना ली, पर भारत ने 'माजिनो लाइन' बनाने की जरूरत नही समझी। बाद की घटनाओं से सिद्ध हुआ कि यह समझदारी का काम था। आखिर द्वितीय विश्वयुद्ध मे भी तो 'सीगफ्रीड' और 'माजिनो' दोनों लाइनें बेकार साबित हुई थीं और यह सिद्ध हो गया था कि जर्मनी

और फ्रांस ने उन पर स्वयं ही करोड़ों रुपया खर्च किया था। दुर्भाग्य इतना ही रहा कि एक अर्थ में इच्छोगिल नहर बनने का रुपया (75 करोड़) भारत से ही पाकिस्तान को प्राप्त हुआ था, सिंध जल-वितरण व्यवस्था संधि के अनुसार।

युद्ध प्रारम्भ होने पर भारत की सेनाएं शानदार वीरता और असाधारण सूझ-बूझ से इच्छोगिल नहर पार कर गईं और दो ओर को बढ़ीं। एक तो स्यालकोट की ओर, जहां जम्मू की सीमा पार करने वाली पाकिस्तानी सेना का अड्डा था और दूसरी लाहौर की ओर। मीयामीर नामक लाहौर की छावनी पश्चिमी पाकिस्तान की तीसरी सबसे बड़ी छावनी थी। भारतीय सेनाएं इस मीयामीर छावनी की सीमा तक जा पहुंची।

लाहौर को आंशिक रूप से घेर लेने के दो लाभ भारत को हुए। जो पाकिस्तानी सेनाएं खेमकरन और राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में आगे बढ़ने का प्रयास कर रही थी, उन्हें मीयामीर (लाहौर छावनी) से और कुमक भेज सकना संभव नहीं रहा और इस तरह पाकिस्तानी आक्रमण को कुंठित तथा क्षेत्र-सीमित कर लिया गया। यही बात स्यालकोट से जम्मू की ओर बढ़ने वाली पाकिस्तानी सेनाओं के साथ भी हुई। लाहौर के खतरे ने उनका बढ़ाव एकाएक रोक दिया। जब भारतीय सेनाएं स्यालकोट की तरफ बढ़ीं, तो जम्मू का खतरा, जो युद्ध प्रारम्भ होने के समय खतरनाक रूप धारण किए हुए था, बहुत कम हो गया। अपनी रक्षा की चिंता ने पाकिस्तानी नेताओं को बौखला दिया।

लाहौर का भाग्य उन दिनों पलड़े में था। भारतीय सेनाएं चाहतीं तो मीयामीर पर अधिकार कर सकती थीं और लाहौर को घेर कर वहां सैनिक सत्ता कायम कर सकती थी। पाकिस्तान के सब से बड़े नगर पर भारत का कब्जा हो जाने से पाकिस्तान के सम्मान को असीम धक्का पहुंचता। भारतीय सेना चाहती तो नोटिस दे कर लाहौर को खाली भी करवा सकती थी। लाहौर पर गोलाबारी कर उसे ध्वंस कर देना तो भारतीय सेना के लिए कुछ ही समय काम था।

पराजय की स्थिति में पाकिस्तान ने 'झूठ' का आश्रय लिया। पाकिस्तानी जनता को प्रतिदिन बताया जाने लगा कि पंजाब और राज-

स्थान के विभिन्न क्षेत्रों में पाकिस्तानी सेनाएं भारत मे बहुत आगे बढ़ गई हैं। उन्हें बताया जाने लगा कि दिल्ली तो क्या बम्बई तक को पाकिस्तानी बममारो ने लगड़ा और ध्वस्तप्राय कर दिया है। भारतीय सेनाएं जब और आगे नही बढ़ी, तो इस तथ्य को भी भारत की कायरता के रूप में पाकिस्तानी जनता के समक्ष पेश किया जाने लगा।

पर भारतीय सेनाओं ने न लाहौर पर अधिकार किया, न उसे खाली कराया और न उसे ध्वस्त ही किया। मेरी राय से यह बिलकुल उचित और ठीक निर्णय था। यदि लाहौर पर कब्जा कर लिया जाता तो भारत और पाकिस्तान का वह अघोषित युद्ध लम्बे घोषित युद्ध में परिवर्तित हो सकता था। ऐसा युद्ध, जो चाहे पाकिस्तान को एकदम ध्वस्तप्राय कर देता, पर भारत को भी उससे बहुत बडी हानि होती। फिर लाहौर जैसे बड़े नगर मे व्यवस्था कायम करना, बीस लाख व्यक्तियों के भोजन आदि की व्यवस्था कर सकना (क्योंकि उस दशा में लाहौर को पाकिस्तान से रसद न मिल पाती) आसान काम नही था। दूसरे विश्वयुद्ध में यूरोप के बड़े नगरो को अपने अधीन रखने के लिए जर्मनी ने एक बहुत बडा संगठन पहले ही बना लिया था। हमारे यहा अभी तक उस तरह की 'आक्युपेशन फोर्सेज' की सत्ता नहीं है। यह ठीक है कि मौका आने पर सेनाएं सभी तरह के काम कर सकें, इस तरह की शिक्षा उन्हें दी जाती है। पर लाहौर मे उस तरह की नौबत नही आ ई, यह अच्छा हुआ। भारत-पाक युद्ध आखीर तक पूर्ण युद्ध का रूप धारण नही कर पाया, इस तथ्य ने पाकिस्तान को तो बचाया ही, भारत को भी बहुत अधिक हानि नही पहुंचने दी। दूसरे विश्वयुद्ध में जिस तरह की विभीषिका यूरोप और एशिया के बहुत से देशों में बरसों तक छाई रही, जिस तरह वहा के बड़े नगरो में हजारों बड़ी-बडी इमारतें ध्वस्त हुईं, लाखों—बल्कि करोड़ों व्यक्ति हताहत हुए। उस सब से भारत और पाकिस्तान दोनों बचे रहे।

भारत-पाक युद्ध यदि और भी अधिक भीषण रूप धारण कर लेता, तो वह विश्वयुद्ध मे भी परिवर्तित हो सकता था। और कौन जानता है कि युद्ध के गहनतर हो जाने पर भारत के प्रति चीन कौन-सा रुख अख्तियार कर लेता।

लाहौर पर भारत का अधिकार होने से भारत-पाक युद्ध की समाप्ति कठिनतर हो जाती।

सच्चाई यह है कि भारत और पाकिस्तान दोनों को अपने विकास के लिए शांति की आवश्यकता है। भारत और पाकिस्तान—दोनों का जन्म एक ही देश से हुआ है। उनमें परस्पर जो असाधारण समानता है—रहन-सहन, चिंतन, रुचि, भाषा इतिहास आदि सभी दृष्टियों से—उसके कारण दोनों देशों मे मैत्री होनी चाहिए, शत्रुता नहीं। पर मैं इस दुर्भाग्यपूर्ण सच्चाई को भी जानता हूं कि कम से कम पाकिस्तानी नेता अभी तक भारत को अपना सब से बड़ा शत्रु मानते है।

गुलमर्ग की वह निराली तहज़ीब

कश्मीर की राजधानी श्रीनगर से सिर्फ सत्ताईस मील दूर, नौ हजार फीट की ऊंचाई पर, करीब बारह वर्ग मील का, लम्बे प्याले के आकार का एक अत्यन्त सुन्दर और हरा-भरा मैदान है, जिसे गुलमर्ग कहते हैं। गुलमर्ग का शाब्दिक अर्थ है—'फूलो का मैदान'। जून के महीने मे यह मैदान सचमुच फूलो का मैदान बन जाता है। गुलमर्ग के उत्तर में कश्मीर की घाटी, गुलमर्ग से करीब चार हजार फीट नीचे, लेटी हुई-सी प्रतीत होती है। पूर्व मे पन्द्रह हजार फीट ऊंची अलपत्थर की पर्वत श्रेणी गगनचुम्बी बर्फीली दीवार के समान खड़ी है।

गुलमर्ग में सर्दी और बर्फ का यह हाल है कि आज तीन सितम्बर के दिन, जब मैं ये पक्तिया लिख रहा हूं, यदि मैंने सुबह से अपने पढ़ने के कमरे में धधकती हुई भट्टी न जलवा रखी होती, तो उंगलियों का सीधा रखना तक असम्भव हो जाता। इस समय दोपहर के बारह बजे है, और यहा से सिर्फ पाच मील दूर, अलपत्थर की चोटी पर खूब जोरों की बर्फ पड़ रही है, और यहा गुलमर्ग में वर्षा के साथ-साथ ओलो की बौछार भी हो रही है। कल और परसो सैकड़ों यात्री सर्दी से घबराकर नीचे, यानी श्रीनगर चले गए हैं। मैं मानता हूं कि इतनी जल्दी इतनी बर्फ पड़ना यहा भी अपवाद है। मैं पिछले दस बरसों से प्रतिवर्ष गुलमर्ग आता हूं। पिछले साल इतनी बर्फ ग्यारह सितम्बर को पड़ी थी, और उसे भी हम लोग जरा जल्दी मान रहे थे।

इस बारह वर्ग मील के सुन्दर मैदान में करीब सात सौ कोठिया फैली हुई है। प्रत्येक कोठी के साथ लम्बा चौड़ा सेहन है। इन्ही सेहनों में फर तथा पाइन (चीड तथा कैल) के जगल, फूलो के उपवन, खेत और चश्मे व्याप्त हैं। गत वर्ष 28 अगस्त, 1941 को गुलमर्ग की जनगणना हुई थी। उस दिन यहां की सात सौ कोठियों मे चार हजार अग्रेज तथा दो सौ अस्सी भारतीय रहते थे। इनके अतिरिक्त यहां 12000 नौकर (कुली, खानसामे,

बैरे, भंगी, चौकीदार आदि) थे। बाजार के इलाके की आबादी भी एक हजार के लगभग थी।

यह वर्ष (1941) आबादी के लिहाज से गुलमर्ग का रिकार्ड-वर्ष है। महायुद्ध के कारण भारत में अंग्रेजों की संख्या बढ़ गई है। इस वर्ष अंदाजा है कि गुलमर्ग की आबादी (अगस्त मे) तीस हजार तक जा पहुंची थी। कोठियों मे इस बार खूब भीड़ रही। उनके अतिरिक्त लगभग तीन-चार सौ तम्बू भी लगाने पड़े। अब के सम्भवतः आठ हजार अंग्रेज, दो हजार भारतीय, तीन हजार बाजार की आबादी और सत्रह हजार नौकर-चाकर गुलमर्ग मे रहे होंगे। अर्थात् गुलमर्ग की पैंसठ प्रतिशत आबादी नौकर-चाकरों की है।

निवासियों की स्थिति की दृष्टि से गुलमर्ग एक निराला स्थान है। यहां जो लोग कोठियां लेते हैं, वे कम से कम उच्च मध्य वर्ग के अवश्य होते हैं। सबके पास कार भी जरूर रहती है। यद्यपि इसमें मेरे जैसे कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। प्रत्येक कोठी के साथ कम से कम चार नौकरों का रहना आवश्यक है। घी और दूध को छोड़कर बाकी सभी कुछ गुलमर्ग मे बहुत महंगा है। गुलमर्ग में आकर हजारों रुपया प्रति सप्ताह व्यय करने वाले अनेक भारतीय तथा कतिपय अंग्रेज परिवार आपको मिलेंगे। शराब, जुआ और शर्तों आदि पर हजारों रुपया यहां प्रतिदिन इधर-उधर होता है।

दूसरी ओर गुलमर्ग की बहुसंख्या, यहां के नौकर-चाकर, दासत्व प्रथा की याद दिलाते हैं।

नौकर-चाकरों में जो लोग पन्द्रह रुपये मासिक, यानी आठ आना प्रति-दिन पाते हैं, वे खुशहाल गिने जाते हैं। यह मानना चाहिए कि गुलमर्ग मे अधिकांश घरेलू नौकर पन्द्रह रुपये मासिक से कम वेतन नही पाते। उन्हें खाने-पीने को भी अच्छा मिल जाता है और उनके अधिकांश मालिक उनसे कठोरता या क्रूरता का व्यवहार नहीं करते। खानसामे, बैरे, चौकीदार, माली, धोबी और आया (अधिकांश परिवारों के साथ आयाएं हैं) इस श्रेणी में आती हैं।

दूसरी श्रेणी है घोड़े वालों और कुलियों की। गुलमर्ग में कार, टांगा,

रिक्शा आदि कोई भी सवारी उपलब्ध नहीं है। डांडियां हैं, जिन्हें सिर्फ अपाहिज या बीमार ही इस्तेमाल करते हैं। गुलमर्ग की सभ्यता में स्वस्थ आदमी का डांडी पर सवार होना हास्यास्पद गिना जाता है। सवारी के लिए यहां एकमात्र सवारी है घोड़ा, हजारों की तादाद में। सामान उठाने के एकमात्र साधन हैं कुली, वे भी हजारों की तादाद मे हैं।

हाल में मेरे एक अंग्रेज़ मित्र ने मुझे बताया था कि गुलमर्ग मे इन दिनों लगभग तीन हज़ार पालतू कुत्ते है। इन कुत्तों का औसतन व्यय एक रुपया प्रतिदिन के हिसाब से तीन हज़ार रुपया प्रतिदिन है। दूसरी ओर गुलमर्ग के कुलियों की आमदनी छः आना दैनिक से अधिक नहीं। अधिकांश कुली तो साढ़े चार आना प्रतिदिन ही कमा पाते हैं। टनमर्ग से जो कुली एक मन बोझ उठा कर दो हज़ार फीट की कड़ी चढाई चढ़कर और चार मील चलकर गुलमर्ग पहुंचते हैं, उन्हें साढ़े चार आना देने का सरकारी नियम है। यह साढ़े चार आने की मज़दूरी भी सब कुलियों को प्रतिदिन नहीं मिलती।

यदि बहुत उदारतापूर्वक भी हिसाब लगाया जाए, तो इन कुलियों की दैनिक औसतन आय पांच आना प्रतिदिन से अधिक नहीं है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि गुलमर्ग के एक पालतू कुत्ते पर यहां के तीन कुलियों की कुल आमदनी से भी अधिक व्यय किया जाता है और फिर कुली अकेले नहीं होते, उन्हें अपनी आय से अपने परिवारों का पालन करना होता है। ये हज़ारों मनुष्य यहां के कुत्तों से बहुत अधिक मेहनत करते हैं, बहुत [illegible] चिन्ता करते हैं और उनकी अपेक्षा एक तिहाई से भी कम आमदनी पाते हैं।

गुलमर्ग जैसे समृद्ध हिल-स्टेशन का यह बहुमत सौ फीसदी [illegible] है। इन हज़ारों कुलियों मे परस्पर किसी तरह के संगठन [illegible] का नितान्त अभाव है। गोरी चमड़ी से जितना भय [illegible] अशिक्षित और अत्यन्त दरिद्र कुलियों को है, उतना [illegible] ही कहीं होगा। गुलमर्ग के कुली चोरी नहीं करते, [illegible] मुकाबले की कोशिश भी कभी नहीं करते। [illegible] चुपचाप अथवा ऊंचा-ऊंचा रोकर बर्दाश्त कर लेते हैं। [illegible]

कारण उनकी भलमनसाहत अथवा उनकी अथाह सहिष्णुता नहीं है, इसका एकमात्र कारण है उनके दिलों का असीम भय। जिस दिन कश्मीरी कुलियों का यह भय दूर हो जाएगा, उस दिन से दुनिया कश्मीर में भयंकर से भयंकर काण्डों की कहानियां सुना करेगी।

आप कार या बस से टनमर्ग पहुंचिए। कार के खड़े होते ही एकदम से कुलियों और घोड़े-वालों की एक फौज आपको घेर लेगी—"साहब, मेरा नम्बर ले लीजिए।" "साहब, मेरा घोड़ा बहुत अच्छा है।" "हुजूर, मैं दिन भर से भूखा हूं, मुझे सामान उठाने दीजिए।" इत्यादि, इत्यादि। टनमर्ग से गुलमर्ग तक दो हजार फीट की सख्त चढ़ाई है। सरकारी रेट (साढ़े चार आना फी कुली) पहले ही बहुत कम है। आपस में प्रतिस्पर्धा के कारण ये कुली अपने रेट और भी गिरा देते हैं। आप इस शोर-शराबे में कुछ भी सुन या समझ नहीं सकेंगे। स्वभावतः आपके मुंह से गुस्से या नाराजगी के दो-एक शब्द निकलेंगे। कश्मीर में पुलिस को हिदायत है कि वह यात्रियों की सुविधा का पूरा ध्यान रखे। आपके मुंह से नाराजगी सूचक शब्द निकलते ही दो-एक कांस्टेबल वहां पहुंच जाएंगे और उन कुलियों पर कोड़ों या डंडों की मार करने लगेंगे।

आज से दस साल पहले, जब मैं पहली बार गुलमर्ग आया था, यह दृश्य देखकर मैं सन्न-सा रह गया था। परन्तु अब तो दस साल से लगातार यह दृश्य देखते-देखते कुछ अभ्यास-सा हो गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह कोड़ों या डंडों की मार कुलियों के लिए जैसे उनके दैनिक रूटीन का भाग बन गई है। नई कार या नई बस के पहुंचते ही आपको फिर से वही नजारा दिखाई देगा। मैं हर साल यह सोचकर आता हूं कि अब तो कुलियों को मनुष्य समझा जाने लगा होगा। पर अभी तक हालात बदलते दिखाई नहीं दे रहे हैं।

घोड़े वालों का भी लगभग यही हाल है। उनकी आत्मा का तो कुलियों की अपेक्षा भी अधिक पतन हो चुका है। बात-बात में झूठ बोलना और गोरी चमड़ी से बेहद डरना उनके स्वभाव का अंग बन गए हैं।

गुलमर्ग के धोबियों, भंगियों और चमारों का सबसे बड़ा अभिमान यह है कि 'साहब अब तक हमने किसी देसी के कपड़े नहीं धोए।' 'जनाब,

मैंने आज तक सिर्फ अंग्रेज साहबों की टट्टी साफ की है', 'हुजूर हम सिर्फ चिट्टे साहबों के जूते बनाते रहे हैं।' मजेदार बात यह है कि इस तरह की बातें कहकर वे आपके सामने गिड़गिड़ाएंगे कि आप भी उनसे काम लें।

यों तो नाई भारत भर में मशहूर हैं, परन्तु गुलमर्ग के नाई तो सचमुच नुमाइश के लायक हैं। नीचे तंग सलवार, ऊपर झक-झक करता हुआ सफेद अंगरखा, सिर पर पगड़ी, मुंह पर फ्रेंच कट दाढ़ी और हाथों में चमड़े के बैग। मुझे तो गुलमर्ग के नाइयों को देखकर अमीर अली के जमाने के ठगों की याद हो आती है। राह चलते दो-एक नाई आप से जरूर पूछेंगे, चाहे आपने उसी दिन सिर के बाल क्यों न कटवाए हों, "हुजूर, कल किस वक्त हाजिर होने का हुक्म होता है ?" आपके इन्कार करने पर वह नाई आपको अपना नाम, अपने बाप का नाम, अपने सर्टिफिकेट आदि के बारे में सुनाने लगेगा और आपसे विनती करेगा कि आप उसका नाम भूलें नहीं।

यों तो ये सब नाई आपको अनेक बार एक साथ बैठे हुए मिल जाएंगे, परन्तु परस्पर जितनी ईर्ष्या इस जमात में है, उतनी और शायद ही किसी जमात में हो। पिछले तीन सप्ताहों से एक नाई मेरे यहां रोज चक्कर काट रहा था। वह अपना और अपने बाप का नाम मुझे इतनी बार सुना गया कि वे दोनों नाम बरबस मेरे मुंह पर चढ़ गए थे। कल जब सचमुच मेरी बाल कटवाने की इच्छा हुई, मेरा चौकीदार नजदीक ही से किसी और नाई को बुला लाया। इस नये नाई से जब मैंने कहा कि मैं तो रहमान से ही बाल कटवाऊंगा, तो वह बड़ी व्यंग्य भरी मुस्कान के साथ बोला—"अजी साहब, रहमान से तो भेड़ के बाल कटवाना भी गलती है।" मैंने उसे डांट न दिया होता तो वह इसी तरह की और भी बहुत-सी बातें कहता।

थोड़ी देर के बाद अचानक रहमान साहब भी आ निकले। उसने शायद सुल्ताना को उधर से जाते हुए देख लिया होगा। मेरे बाल काटते-काटते बोला, "साहब, सुल्ताना अभी यहां से होकर गया है न ?"

मेरे 'हां' कहने पर वह बोला, "हुजूर आप तो बच गए। कल साथ वाली कोठी के साहब ने सुल्ताना को जूतों से मारा था। नालायक ने उनके साहबजादे के सारे बाल बिगाड़ दिए।"

रहमान को बहकता हुआ देखकर मैंने उसे भी डांटा। मैंने उससे कहा, "तुम लोगों की आदत ही है कि एक दूसरे की निन्दा करो। सुल्ताना कहता था कि तुम तो भेड़ के बाल भी नहीं काट सकते।"

रहमान बहुत ही गम्भीर होकर बोला, "जनाब, सुबह-सुबह (उस वक्त ग्यारह से कम नहीं बजे होंगे) खुदा झूठ न बुलाए। उस ऊपर की कोठी में उस दिन राजा साहब सुल्ताना को पुलिस के हवाले करने लगे थे। नालायक ने उनके सारे बाल बिगाड़ दिए थे। सुल्ताना ने राजा साहब के सामने नाक से सत्रह लकीरें निकाली, तब जाकर उन्होंने छोड़ा। कल का छोकरा अगरखा पहनकर नाई बन गया है।"

गुलमर्ग के नौकर-चाकरों में सबसे शरीफ जमात है, यहां के चौकीदारों की। वे प्राय. बहुत मेहनती, सच्चे और ईमानदार होते हैं। चौकीदारों को छोड़कर गुलमर्ग की सारी आबादी, सब सैलानी और सब नौकर-चाकर फसली हैं। ये चौकीदार, बारी-बारी उन दिनों भी यहां बने रहते हैं, जिन दिनों सारा गुलमर्ग बीस-बीस फुट बर्फ में दब जाता है।

वह पुराना गुलमर्ग आज नहीं रहा। देश के विभाजन स्वरूप जिन स्थानों का बलिदान हुआ है, उनमें गुलमर्ग भी एक है। विश्व के कितने पर्यटकों की दृष्टि में इस पृथ्वी पर एक सबसे अधिक सुन्दर स्थान गुलमर्ग है। कबाइलियों के आक्रमण के बाद गुलमर्ग वह पुराना सौन्दर्य पुनः उपलब्ध नहीं कर सका। नौ हजार फीट की ऊंचाई पर एक सुन्दर और विशालकाय प्याले के आकार मे मखमली घास से पटे मैदान, गगनचुम्बी देवदारों और चीडों के सघन वन, उनके अन्तराल में बीसियों झरनों के किनारों पर लाखों-करोडो सुन्दर फूल, एक ओर बर्फ से ढकी ऊची चोटिया और दूसरी ओर नीचाई पर चित्रलिखित-सी कश्मीर की सुन्दर घाटी और बुलर झील—ये सब आज भी उसी तरह है, पर गुलमर्ग का सम्पूर्ण वैभव जैसे भस्माच्छादित-सा हो गया है। इसलिए कि वहां के निवासी तितर-बितर हो गए हैं।

अपने वैभव के दिनों में गुलमर्ग की एक निराली संस्कृति थी। उसी के दो उदाहरण मैं यहा दे रहा हूं।

सन् 1936 : हसन बट गुलमर्ग का एक बड़ा दूकानदार है, फल सब्जी से लेकर मंहगे से मंहगे विदेशी माल तक सभी उसके यहां उपलब्ध है। मेरा उससे जरा भी परिचय नहीं है। पर उसकी दुकान खूब बड़ी है और सभी वस्तुओं का अच्छा संग्रह और चुनाव उसके पास है। बहुत से लोग उसकी दुकान पर काम करते है। मैं काफी लम्बे अरसे के लिए गुलमर्ग आया हूं। एक दिन राह चलते मैंने हसन बट से कुछ खरीदना चाहा तो उसने खूब नम्रता के साथ मुझे सलाम किया। सामान खरीदकर जब मैंने हसन बट को उसके दाम देने चाहे तो उसने कहा, "हुजूर हम इस तरह दाम नही लेते। महीने के बाद जो बिल होगा आपके पास भेज दिया जाएगा। यही हमारा दस्तूर है।" मैंने उससे कोई बहस नही की। गुलमर्ग में नकद दाम न लेने का कुछ रिवाज ही था। यहा तक कि घोड़े वालों और कुलियों को भी जब-जब पैसे देने लगे तो वे अगले दिन पर टाल जाते थे। शायद इस आशा से भी कि उन्हे पुनः काम मिलेगा। सो मैंने आग्रह नही किया। यह तो वहा का रिवाज ही था।

दिन बीतते गए और हसन बट से पुनः मिलने का अवसर मुझे नही मिला। हा, उसकी दुकान निर्भर करने योग्य थी, इससे मेरी पत्नी कितनी ही वार चिटें भेज कर उससे घर का सामान मंगवाती रही।

गुलमर्ग में हम सब का खूब जी लग गया था। जिस कोठी में मैं ठहरा था, वह केवल छह सप्ताह के लिए मैंने किराए पर ली थी और उसका पूरा किराया पेशगी दे दिया गया था। मेरी इच्छा हुई कि कम से कम दो सप्ताह वहां और ठहरा जाए। पर छठें सप्ताह के अन्तिम दिन मकान मालिक ने अचानक नोटिस दे दिया कि या तो कोठी कल तक खाली हो जानी चाहिए और या आने वाले पूरे छह सप्ताहो का किराया पेशगी दे दिया जाए। यह सम्भव नहीं था। इससे निश्चय किया गया कि अगले दिन को प्रातः हम लोग कोठी खाली कर देंगे।

कोई यात्री कल नीचे जा रहा है, यह खबर गुलमर्ग की सबसे महत्व-पूर्ण खबर थी। प्रत्येक यात्री बीसों लोगों का देनदार होता था और उस दिन वे सब वसूली के लिए आ पहुंचते थे। मैंने देखा कि मेरे पास 400 रुपया (आज की तुलना में उसकी क्रय शक्ति चार हजार से भी ऊपर थी)

नकद मौजूद है। मेरे ख्याल से यह काफी था और मैं सभी लोगो की रकमें अदा करता गया। नौकरों की तनख्वाहे, बिजली का बिल, धोबी, नाई, दूध वाला, सब्जी वाला, घी वाला, घोड़े वाला, और न भी जाने कौन-कौन उसी दिन अपनी वसूली कर गए।

दूसरे दिन जब मैं हसन बट का हिसाब चुकाने उसकी दूकान पर जाने लगा, तो पाया कि मेरे पास पचास रुपये से अधिक बाकी नही बचे हैं। कम से कम इतना बिल तो हसन बट का होगा ही। पर मुझे चिन्ता इस कारण नही हुई क्योकि गुलमुर्ग में मेरे एक घनिष्ठ मित्र रहते थे, जिनसे मैं चाहे जो रकम उधार ले सकता था। अपनी पत्नी को मैंने हसन बट का हिसाब चुकाने भेज दिया। मैंने उनसे कह दिया कि अपने उन मित्र के यहां होकर मैं उन्हें दुकान ही पर मिल रहा हूं।

अपने उक्त मित्र (श्री प्रेम किरपाल) के यहां जाकर मुझे ज्ञात हुआ कि अचानक लाहौर से युनिवर्सिटी का तार आ जाने के कारण कल ही वह एक सप्ताह के लिए लाहौर चले गए हैं। वह इतनी शीघ्रता में गए थे कि मुझे सूचना तक भी नहीं दे पाए थे। सो उनके यहां रुकने का सवाल ही नही था। मैं अपना घोड़ा दौड़ाकर सीधा हसन बट की दुकान पर पहुचा, जहा मेरी पत्नी कुछ ही देर पहले पहुंची थीं और उन्हें कुर्सी पर बैठाकर हसन बट ने कश्मीरी चाय लाने का आर्डर दे रखा था। व्यस्त होते हुए भी हसन बट मुझसे बहुत अच्छी तरह पेश आया। उसने यह भी कहा कि आप लोग तो बहुत ही जल्दी नीचे जा रहे हैं।

चाय पीते-पीते मैंने अंग्रेजी में अपनी पत्नी को यह खबर दी कि श्री प्रेम किरपाल तो गुलमर्ग से जा चुके हैं। अपनी पत्नी के पूछने पर मैंने यह भी बता दिया कि हसन बट का बिल पे कर देने पर कुलियों को मजदूरी तक देने मे दिक्कत होगी। टनमर्ग से टैक्सी लेकर उसकी अदायगी तो हम श्रीनगर में भी कर सकते हैं। पर इस सब में दिक्कत अवश्य होगी। हम लोग बहुत धीमी आवाज में और अंग्रेजी में यह बातचीत कर रहे थे। और मेरा ख्याल था कि हसन बट अंग्रेजी नही जानता। यों भी वह अपने काम मे व्यस्त था। उसे कुछ फुरसत से पाकर मैंने कहा, "हमारा बिल दे दीजिए।"

हसन बट ने मुसकराकर कहा, "एक मिनट ठहरिए साहब !" वह किसी ग्राहक को सौ रुपये के नोट की बाकी दे रहा था। सहज भाव से अपना काम समाप्त कर हसन बट ने मुझसे कहा, "हुज़ूर किसी की बात चोरी से सुनना गुनाह है। मगर मैंने आप दोनों की आपसी गुफ्तगू सुन ली है और इस गुनाह की माफी चाहता हूं।"

मुझे अभी समझ नहीं आया था कि हसन बट कहना क्या चाहता है। पर उसी क्षण अपना कैश बक्स, जिसमें हज़ारों रुपयों के नोट रखे थे, मेरी ओर बढ़ाकर हसन बट ने कहा, "हुज़ूर, आपको जितने रुपयों की ज़रूरत हो, इसमें से ले जाइए। लाहौर पहुंच कर मनिआर्डर कर दीजिएगा। कोई फिक्र करने की बात नहीं है साहब !"

और मैं समझता था कि मेरा और हसन बट का विशेष परिचय नहीं है। न जाने कहां से उसने मालूम कर लिया था कि मैं लाहौर का रहने वाला हूं। मैंने लाख कोशिश की, मगर हसन बट ने अपना बिल वसूल करने की बात मंज़ूर ही नहीं की। मेरे यह बताने पर कि मैं अभी कुछ दिन श्रीनगर में रहूंगा, उसने कहा कि आप चाहें तो यह रकम मेरी श्रीनगर की दूकान पर दे दीजिएगा।

बड़े आदर से हसन बट ने हम लोगों को चाय पिलाई, पान खिलाएं और कहा, "अब आपको देर हो रही है। खुदा हाफिज़ !" किसी तरह की लिखत-पढ़त तक करने को वह राज़ी नहीं हुआ। यह बात जुदा है कि उसके बाद से हम सदा के लिए हसन बट के स्थायी ग्राहक बन गए। क्योंकि मैं तो प्रति वर्ष गुलमर्ग जाया करता था।

गुलमर्ग संसार का सबसे ऊंचा हिल-स्टेशन है और वहां किसी भी मौसम में अचानक बहुत तेज़ जाड़ा पड़ सकता है। मेरी पत्नी की बड़ी बहन कुछ दिन हमारे यहां ठहर कर नीचे जा रही थीं। सांझ की चाय पीकर हम लोग उन्हें छोड़ने के लिए चले, तो आकाश में धूप चमक रही थी। घूमना-फिरना हम दोनों को पसन्द है, इससे मेहमान को विदा देने हम लोग टनमर्ग तक चले आए जो गुलमर्ग से दो हज़ार फीट नीचे तीन मील की दूरी पर

हैं। हमारी दो बरस की बेटी रेवा भी साथ थी, जिसे उसके व्यक्तिगत अनुचर ने गोद मे उठाया हुआ था। टनमर्ग पहुंचकर भी हम लोग तब तक आपस में गपशप करते रहे, जब तक हमारे मेहमान की टैक्सी चल नही दी।

उसके बाद हम दोनों ने एकाएक पाया कि अचानक अंधेरा छा गया है और हर तरफ सन्नाटा व्याप्त हो गया है। कुछ क्षण तो मेरी समझ में कुछ भी नही आया कि माजरा क्या है, पर उसके बाद आकाश की ओर देखा, सब बात समझ आ गई। आकाश अचानक घने और काले बादलों से आछन्न हो गया था। मैंने बहुत कोशिश की कि दो घोड़े मुझे मिल जाएं, पर आकाश के ये आसार देखकर कोई घोड़े वाला ऊपर जाने को तैयार नही हुआ। टनमर्ग में ठहर सकना असम्भव था, प्रत्येक मिनट अंधकार बढ़ता जा रहा था। सिर्फ एक छाता मेरे पास था, जिससे मैं छडी और छाता दोनो का काम लेता था। आखिर परमात्मा का नाम लेकर हम चारों गुलमर्ग के लिए रवाना हो गए। रेवा लोई में लिपटी हुई अपने परिचारक की गोद में थी। मेरे पास छाता था और गरम कपड़े के नाम पर मेरी पत्नी के पास सिर्फ एक स्वेटर था।

हम लोग कुछ ही ऊपर गए थे कि बादलों में बिजली कौंधने लगी। हवा तेज बहने लगी। चारों ओर के जंगल सांय-सांय की ध्वनि से गूंज उठे। एक दहशत-सी लिए हम चढ़ाई चढने लगे। इतनी देर में एक मोड़ पर ऊपर की ओर से नीचे आता हुआ एक घोड़ा अचानक हमारे पास आकर रुक गया। इस घोड़े पर एक अंग्रेज युवती सवार थी। उसने अत्यन्त आश्चर्य से हम लोगों से पूछा, "आप लोग किस हिम्मत पर इस तरह ऊपर जा रहे हैं? वह भी एक बच्चे को साथ लेकर!"

मैंने सारी स्थिति बताई और कहा कि हम लोग और कर ही क्या सकते है?

उस महिला ने कहा कि इस तरह नीचे चले आकर हम लोगो ने बहुत बड़ी गलती की। इतना कहकर उस महिला ने अपना अत्यन्त कीमती मैकन्टोश उतारा और मेरी पत्नी के हवाले कर दिया। उनके घोड़े वाले ने उस महिला का एक कीमती कम्बल भी उठा रखा था। वह कम्बल उन्होंने रेवा के लिए दे दिया।

सबसे बड़ा अचम्भा तो हमें यह हुआ कि उक्त दोनों अत्यन्त बहु-मूल्य वस्तुएं हम एकदम अपरिचित व्यक्तियों को देकर उस महिला ने न हमारा नाम पूछा और न पता। इतना ही कहा कि दूसरे दिन हम ये दोनो चीजें अमुक कोठी में पहुंचा सकते हैं, जहां से ये उनके पास भेज दी जाएगी। और जब मैं उन्हें धन्यवाद देने लगा तो उस महिला ने मुस्करा-कर कहा, "आपका समय कीमती है। किसी भी वक्त ओले पड़ सकते है। आप शीघ्रता से गुलमुर्ग पहुंचने की कोशिश कीजिए।"

और हमारे गुलमुर्ग पहुंचते न पहुंचते वह सम्पूर्ण घाटी हजारो-लाखों ओलो की बौछार से पूरी सफेद हो उठी थी। चारों तरफ घना कोहरा व्याप्त हो गया था और सर्दी इतनी बढ़ गई थी कि दांत से दांत बजने लगे थे।

मजनू का किस्सा एक संत की जबान से

सन् 1926 की बात है। उन दिनों मैं गुरुकुल कांगड़ी का एक छात्र था। सर्दियों के एक रविवार को हम कुछ विद्यार्थी गंगा की तीन क्षीण धाराएं पारकर कनखल पहुंचे। प्रजापति दक्ष के मंदिर के भीतर से होकर हम लोग जब सड़क के मोड पर गृहस्थ मोहल्ले के एक पक्के मकान के फाटक के पास पहुंचे, तो देखा कि, एक कौपीनधारी साधु फाटक पर ही घर की सम्भ्रान्त मालकिन से भिक्षा ग्रहण कर रहा है।

हम लोगों की ओर साधु की पीठ थी, इससे उसका चेहरा तो हमने नहीं देखा, पर यह जरूर देखा कि वह वृद्ध है। महिला बहुत ही विनय के साथ कह रही थी, "संतजी, आपकी प्रतीक्षा तो बहुत दिनों से थी। आपके लिए मैंने अपने हाथ से केसरवाली खीर बनाई है।"

यह सुनकर हम सब आर्य-समाजी संस्कारोंवाले विद्यार्थी ठहाका मार कर हंस पड़े। एक विद्यार्थी ने तो कह भी दिया, "संतजी आज कितने खुश होंगे।"

और उसी समय वृद्ध साधु ने गर्दन मोड़कर हम लोगों की ओर देखा। हम लोग इस समय तक उनके एकदम निकट पहुंच गए थे। मेरी आंखें साधु की आंखों से मिलीं और एकाएक मैं गम्भीर हो गया। सहसा मुझे यह अनुभूति हुई कि, इन दो आंखों से अधिक पवित्र आंखें मैंने आज तक नहीं देखीं।

आश्चर्य तो यह कि, सिर्फ मेरा ही नहीं, बल्कि हम सभी विद्यार्थियों का लगभग एक सा यही हाल हुआ। सभी एकाएक गम्भीर हो गए, जैसे अनजाने में हम लोगों से कोई अपराध हो गया हो। पर वे साधु अब हमारी ओर देखते हुए मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा, "बच्चो, खीर मुझे सचमुच अच्छी लगती है।"

इसी समय उस भद्र महिला ने हम लोगों से कहा, "ब्रह्मचारियो, ये

संत मथुरादासजी महाराज हैं।"

इस नाम से हम सब परिचित थे। बचपन से सुनते आए थे कि हरिद्वार के गंगा-पार के जंगलों में मथुरादास नाम के एक बड़े संत विचरण किया करते है। उनकी आयु 110 वर्ष से ऊपर है। वे कभी-कभी भिक्षाटन के लिए हरिद्वार या कनखल में आते हैं और केवल एक ही घर से भीख मांगते हैं और खाकर चले जाते हैं। यह भी सुना था कि पचपुरी के सद्गृहस्थ उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करते हैं कि कब संत मथुरादास उनके दरवाजे पर दस्तक दें।

अब जरा गौर से देखा—सिर पर सौ फीसदी सफेद घने बाल। सरल मुसकराहटपूर्ण प्रसन्न चेहरा। शरीर के सभी रोएं तक सफेद पड चुके हैं। तेज सर्दी होने पर भी शरीर पर एक कौपीन-भर है। शरीर सुडौल, कोमल और भव्य है। वृद्धावस्था का किसी तरह का कोई विकार कही दिखाई नही देता। और सबसे अधिक विस्मयदायक हैं, उनकी आंखें, जो किसी 8-10 महीने के बच्चे की आंखों के समान स्वच्छ और पवित्र प्रतीत होती हैं। इसी समय संतजी ने पूछा—"किस संस्था के विद्यार्थी हो?"

हम लोगों ने बताया कि, हम लोग गुरुकुल कांगड़ी के छात्र हैं। उन्होंने कहा, "किसी दिन मुझसे मिलना।"

उन्हें प्रणाम कर हम वहां से चले और रामकृष्ण मिशन के अस्पताल में पहुंचे। एक अवसर-प्राप्त बंगाली सिविल सर्जन इस संस्था के अध्यक्ष थे, जिनसे उनके जीवन के विविध अनुभव हम लोग प्रायः सुना करते थे। संत मथुरादासजी के दर्शनों का जिक्र करने पर उन्होंने सुनाया कि, एक बार संत मथुरादास पहाड़ पर घूमते समय,पांव फिसलने से एक खड्ड में जा गिरे थे, जहा एक नुकीला पत्थर लगने से उनके पेट में नौ-दस इंच गहरा घाव हो गया। खून बहुत बह जाने से वे बेहोश हो गए। तीन दिन बाद उस रास्ते से गुजरते हुए मुसलमान गूजर भाइयों ने उन्हे देखा और उठा कर मिशन के अस्पताल में पहुंचाया। आपरेशन करना बहुत जरूरी था। जब डाक्टर साहब ने आपरेशन टेबुल पर लिटाकर क्लोरोफार्म सुंघाना चाहा, संतजी पूछ बैठे—"यह क्या है?" उन्हे बताया गया कि, यह बेहोशी लाने की दवा है और इतने बड़े आपरेशन में उन्हें बेहोश करना जरूरी है।

परंतु संतजी तैयार न हुए। अंत में बिना क्लोरोफ़ार्म के ही आपरेशन करना पड़ा। और छ: घंटे के उस मेजर आपरेशन में क्या मजाल कि, एक बार भी संत जी के मुंह से आह निकली हो। वे तो मुस्कराते रहे।

यह सब सुनाकर वृद्ध डाक्टर ने जैसे परोक्ष रूप में संत मथुरादासजी को नमस्कार करते हुए कहा, "संतजी को सिद्धि प्राप्त है। उनका दर्शन भी एक बड़ा पुण्य और सौभाग्य है।"

और यह सौभाग्य मुझे कई बार मिला। उन्हीं दिनों और भी कितनी ही आश्चर्यजनक बातें कितने ही जानकार लोगों से हमने सुनीं। संतजी के दर्शनों का अवसर हम लोग प्राय: खोजने लगे। उनसे हुई, अंतिम भेंट को मैं आजन्म नहीं भूलूंगा।

गर्मी का मौसम था। संतजी तेजी से कहीं जा रहे थे और हम लोगों ने उन्हें अचानक जा पकड़ा। वे बोले, "आओ थोड़ी सैर करें।" हम लोग एक छोटी नहर के किनारे-किनारे चल रहे थे और सुबह के 10 बजे की धूप भी हमें काफी तेज प्रतीत हो रही थी। कुछ दूर जाकर संत ने कहा, "तुम लोगों को गर्मी लग रही है न ?"

हम सबके चेहरे पसीने से लथपथ हो उठे थे। पास ही एक पेड़ था। संतजी उसके नीचे बैठ गए और बोले, "आओ, यहां आराम कर लो।"

हम लोग नहर के किनारे की घास पर उन्हें घेरकर बैठ गए। हमारे एक प्रोफ़ेसर भी, जो उनके पुराने भक्त थे, साथ में थे। उन्होंने कहा, "संतजी, हम सबको अपना आशीर्वाद दीजिए।"

संत मथुरादास ने कहा, "मैं तो इन किशोरों को एक कहानी सुनाऊंगा।"

हम लोगों ने उत्सुकता से कहा, "अवश्य सुनाइए संतजी।"

वे बोले, "लैला और मजनू की कहानी तुमने सुनी है न ? लैला के लिए मजनू एक तरह से पागल हो गया था। पर लैला को वह पा नहीं सका। मजनू जब पूरी तरह निराश हो गया कि मुझे लैला नहीं मिलेगी, तो उसने खाना-पीना छोड़ दिया। दुनिया-भर से नेह-नाता तोड़कर शहर के बाहर वह चुपचाप एक वृक्ष के नीचे पड़ा रहता था। लोगों को उस पर तरस आता था। राह चलते लोग उससे सहानुभूति प्रदर्शित करते, उसे

खाना देना चाहते; पर वह न किसी की बात का जवाब देता और न कुछ खाता-पीता ही।

"एक दिन खुदा को मजनू पर रहम आया। उसने इरादा किया कि स्वयं जाकर मजनू को समझाये। खुदा तो खुदा ही है। इच्छा करते ही वह मजनू के सामने जा पहुंचा। खुदा ने आवाज दी—'मजनू!'

"मजनू, किसी की बात नहीं सुनता था, खुदा की पुकार सुनकर बोला—'जी!'

"खुदा ने कहा—'उठ, आंखें खोल। देख, मैं आया हूं।' मजनू गपचुप उठ बैठा और उसने आंखें खोलकर खुदा की आंखों में देखा। "खुदा ने कहा—'देखता क्या है मजनू! मैं खुदा हूं।'

"मजनू ने और भी गौर से खुदा की आंखों में देखा और कहा—'तू खुदा कहां है? तेरी आंखें तो हूबहू लैला की आंखें हैं! तेरी आवाज हूबहू लैला की आवाज है! तू खुदा कहां है?'"

इतना कहकर संत मथुरादास एकाएक चुप हो गए। सब मौन थे। चुप थे। संतजी ने कहा—"बच्चो, इन्सान में मजनू हो, तो मजनू होओ। जीवन में किसी एक चीज को वर लो; फिर उसी में डूब जाओ।"

और इसके बाद एकाएक करवट बदलकर लाठी पर हाथ रखकर वे तेजी से एक ओर को अकेले चले गए।

भारत मां के लिए रोना सीखो

अपने विद्यार्थी जीवन में वर्तमान युग की जिन पुस्तकों को पढ़कर उनके लेखकों के प्रति मैं श्रद्धान्वित हुआ हूं, उनमें 'राइज आफ क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया' के लेखक वामनदास वसु तथा व्यग्य नामात्मक 'दिस प्रोस्परस ब्रिटिश इण्डिया' के अंग्रेज लेखक डिग्बी प्रमुख हैं। डिग्बी साहब का तो तब तक देहान्त हो चुका था, पर मेजर वसु उन दिनों अवसर-प्राप्त जीवन व्यतीत कर रहे थे। मेरे जी मे आता था कि कभी सुविधा मिली तो अवश्य ही उनके निवास स्थान पर जाकर उनके दर्शन करूगा। संयोग से 1929 में वह स्वयं हमारे यहा मेहमान बनकर आए। उनके दर्शन कर तथा उन से बातचीत कर मुझे असाधारण उल्लास की अनुभूति हुई थी। उन दिनो वह वृद्ध थे और श्वेत दाढ़ी-मूंछों से भरा उनका ऋषितुल्य चेहरा मुझे बहुत भव्य मालूम हुआ था।

मेजर वसु के सम्मान में हम लोगो ने विद्यार्थियो की एक सभा का आयोजन किया। इस सभा मे हम लोगों ने उनकी प्रशसा मे वक्तृत्व दिए। एक प्रभावशाली लेखक के अतिरिक्त हमारी निगाह मे वह एक महान देशभक्त भी थे। अपनी उक्त पुस्तक लिखकर उन्होने एक बडा खतरा उठाया था। हम लोगों के श्रद्धापूर्ण उद्‌गारों में स्वभावतः इसी बात पर बल दिया गया था।

विद्यार्थियो के भाषणों के बाद मेजर वसु से यह अनुरोध किया गया कि वह हम लोगों को कोई सन्देश दें। बहुत अनुरोध करने पर वह बोलने को तैयार हुए। हम सबको विश्वास था कि डाक्टर वसु किसी राजनीतिक विषय पर अपने विद्वतापूर्ण और अनुभवपूर्ण विचार व्यक्त करेंगे, यही अनुरोध हम लोगों ने उनसे किया था। पर उस दिन उन्होंने जो कुछ कहा, उसको मुझे उनसे स्वप्न मे भी आशा नही थी। वह बहुत कम बोले। पर जो कुछ उन्होने कहा, वह इतना महत्त्वपूर्ण था कि मेरे हृदय पर उसकी गहरी छाप पड़ी। उनकी वाणी मे असाधारण अनुभूतिशीलता थी। ऐसी

अनुभूतिशीलता, जिसने हम कुमारों को द्रवित कर दिया था। उन्होने कहा, "तुम लोग भारत के राजनीतिक और सामजिक अभ्युत्थान के उपायों के सम्बन्ध में मेरे विचार जानना चाहते हो और मुझे इस सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा याद आ रही है। वह कहानी मैं तुम्हें सुना रहा हू—राजा सगर द्वारा आयोजित राजसूय यज्ञ के अवसर पर परिस्थिति वश एक युद्ध उठ खड़ा हुआ और उसमें महाराजा भगीरथ के सभी पुत्र एक साथ मारे गए। इस दुर्घटना से महाराज भगीरथ को भारी दुख पहुंचा, पर उसी समय उन्हे ज्ञात हुआ कि उनके पुत्रो की आत्मा का कल्याण तभी हो सकता है, अगर गगा अपने उच्च आवास से उतर कर भूतल के उस भाग पर बहने लगे, जहा उनके पुत्रों का देहान्त हुआ था। इसके बिना वे सब प्रेतलोक के वासी ही बने रहेगे।

महाराज भगीरथ अपना दुख भूल कर गंगा को इस पृथ्वी पर लाने का उपाय और परिश्रम करने लगे। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने कोई सम्भव उपाय नही छोड़ा। जान्हवी को प्रसन्न करने के लिए आत्मशुद्धि की; बरसो तक घोर तप किया, निरन्तर उपासना की और यहा तक कि हिमालय के ऊंचे पर्वत तक भी काट डाले—पर जान्हवी भूतल पर आने को तैयार न हुई। भगीरथ की अनुनय-विनय, तपश्चर्या और प्रयास सभी व्यर्थ गए। गंगा मैया टस से मस न हुई। भगीरथ के मन और शरीर दोनों अद्भुत रूप से शुद्ध हो गए थे। बड़ी से बड़ी तपश्चर्या ने उसकी आध्यात्मिक शक्ति को भी कई गुणा बढा दिया था। पर मां जान्हवी पर भगीरथ की किसी साधना का कोई प्रभाव नही हुआ। मां गगा नही पसीजी। हिमालय की ऊंची चोटियों पर वह निरन्तर बरफ-सी कठोर जमी बैठी रही।

और तब एक दिन महाराज भगीरथ की आत्मशुद्धि से प्रभावित होकर भगवान शकर ने उन्हें दर्शन दिए। पूछे जाने पर शंकर भगवान के चरणो मे नतमस्तक होकर महाराज भगीरथ ने अपनी हार्दिक अभिलाषा उन से निवेदित कर दी। भगवान ने कहा—"गंगा मातृत्व की प्रतिनिधि है और मातृत्व को आज्ञा देकर नही जगाया जा सकता भगीरथ। गंगा को आज्ञा देना मेरे बस की बात भी नहीं है।"

भगीरथ ने कहा, "तो फिर क्या मेरे लिए अब कोई आशा शेष नहीं है भगवन ?"

भगवान शंकर ने उत्तर दिया, "आशा क्यों नहीं है। आशा क्या, मुझे विश्वास है कि तुम सफल होगे।"

भगीरथ ने पूछा, "तो उसके लिए मैं क्या उपाय करूं भगवन् ?"

उत्तर मिला, "तुम रोओ भगीरथ ! मां गंगा के चरणों में खूब खुलकर और सम्पूर्ण हृदय से रोओ। इतना रोओ कि तुम्हारे व्यक्तित्व का सम्पूर्ण कलुप धुलकर बह जाए। रोना सीखो, भगीरथ। आत्मा के रुदन में असीम शक्ति है।"

और उसके बाद महाराजा भगीरथ मां जाह्नवी के चरणों में बैठ कर सचमुच रोए। मा गगा पिघल गईं। और भगीरथ के सिर पर एक बार अपना वात्सल्य भरा हाथ फेर कर बोली, "चलो बेटा, मैं तुम्हारे साथ चलूंगी।"

भगीरथ आगे-आगे बढते आए और मां जाह्नवी उनके पीछे-पीछे चल कर भूतल पर उतर आईं।

यह कहानी समाप्त कर मेजर वसु ने उपसंहार के रूप में कहा, "किशोरो, मैं आज तुम से भी कहता हूं कि भारत मां के लिए सच्चे हृदय से रोना सीखो। इस रुदन मे असीम शक्ति है।"



48101

हिंदुस्तान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-32